



Hindu Temple of Ottawa-Carleton Inc.
4835 Bank Street, Ottawa, Ontario K1X 1G6

हरि गीता

गीता ध्यान

हरिः ॐ

ओं पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारतम् ।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीं, अष्टादशाध्यायिनीं
अंब त्वां अनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीं ॥ 1

नमोऽस्तुते व्यास विशालबुद्धे फुल्लार विन्दा यत पत्र नेत्र ।
येन त्वया भारत तैल पूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ॥ 2

प्रपन्नपारिजाताय तोत्र केत्रैक पाणये ।
ज्ञान मुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥ 3

सर्वापनिषदो गावो दोग्धा गोपाल नन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ 4

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगत् गुरुम् ॥ 5

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला ।
अश्वत्थाम विकर्ण घोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवैः रणनदी कैवर्तकः केशवः ॥ 6

पाराशर्यवचः सरोज ममलं गीतार्थगन्धोत्कटं
नानाख्यानक केसरं हरिकथा संबोधना बोधितम् ।
लोक सञ्जन षट् पदै रहरहः पेपीयमानं मुदा

भूयाद्भारत पङ्कजं कलिमल प्रध्वंसिनः श्रेयसे ॥ 7

मूकं करोति वाचालं पङ्कुं लङ्घयते गिरिम् ।

यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्द माधवं ।

8

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैः

वेदैः साङ्गपद क्रमोपनिषदैः गायन्ति यं सामगाः ।

ध्यानावस्थित तद्गतेनमनसा पश्यन्ति यं योगिनः

यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणाः देवाय तस्मै नमः ॥ 9

पहला अध्याय
अर्जुन विषाद योग

धृतराष्ट्र ने कहा
रण लालसा से धर्म भू कुरुक्षेत्र मे एकत्र हो ।
मेरे सुतों ने पाण्डवों ने क्या किया संजय कहो ॥ 1

संजय ने कहा
तब देखकर पाण्डव-कटक को व्यूह रचना साज से ॥
इस भाँति दुर्योधन वचन कहने लगे गुरुराज से ॥ 2

आचार्य महती सैन्य सारी पाण्डवों की देखिए ।
तब शिष्य बुधवर द्रुपद-सुत ने दल सभी व्यूहित किये ॥ 3

भट भीम अर्जुन से अनेकों शूर श्रेष्ठ धनुर्धरे ।
सात्यकि द्रुपद योद्धा विराट महारथी रणबांकुरे ॥ 4

काशी नृपति भट धृष्टकेतु व चेकितान नरेश हैं ।
श्री कुन्तिभोज महान पुरुजित शैव्य वीर विशेष हैं ॥ 5

श्री उत्तमौजा युधामन्यु पराक्रमी वरवीर हैं ।
सौभद्र, सारे द्रौपदेय, महारथी रणधीर हैं ॥ 6

द्विजराज! जो अपने कटक के श्रेष्ठ सेनापति सभी ।
सुन लेजिए मैं नाम उनके भी सुनाता हूँ अभी ॥ 7

हैं आप फिर श्री भीष्म, कर्ण, अजेय कृप रणधीर हैं ।
भूरिश्रवा गुरुपुत्र और विकर्ण से बलवीर हैं ॥ 8

रण साज साजे निपुण शूर अनेक ऐसे बल भरे ।

- मेरे लिए तैयार हैं, जीवन हथेली पर धरे ॥ 9
- श्री भीष्म-रक्षित हैं नहीं, पर्याप्त अपना दल बडा ।
फिर भीम रक्षा मे उधर, पर्याप्त उनका दल खडा ॥ 10
- इस हेतु निज निज मोरचों पर, वीर पूरा बल धरें ।
सब ओर चारों छोर से, रक्षा पितामह की करें ॥ 11
- कुरुकुल-पितामह तब नृपति-मन मोद से भरने लगे ।
कर विकट गर्जन सिंह-सी, निज शंखध्वनि करने लगे ॥ 12
- फिर शंख भेरी ढोल आनक गोमुखे चहुँ ओर से ।
सब युद्ध बाजे एक दम बजने लगे ध्वनि घोर से ॥ 13
- तब कृष्ण अर्जुन श्वेत घोडों से सजे रथ पर चढे ।
निज दिव्य शंखों को बजाते वीरवर आगे बढे ॥ 14
- श्रीकृष्ण अर्जुन पाञ्चजन्य व देवदत्त गुंजा उठे ।
फिर भीमकर्मा भीम पौण्ड्र निनाद करने मे जुटे ॥ 15
- करने लगे ध्वनि नृप युधिष्ठिर, निज अनन्त विजय लिये ।
गुंजित नकुल सहदेव ने सु-‘सुघोष’ ‘मणिपुष्पक’ किये ॥ 16
- काशी नरेश विशाल धनुधारी, शिखण्डी वीर भी ।
भट धृष्टद्युम्न, विराट, सात्यकि, श्रेष्ठ योधागण सभी ॥ 17
- सब द्रौपदी के सुत, द्रोपद, सौभद्र बल भरने लगे ।
चहुँ ओर राजन्! वीर निज निज शंख-ध्वनि करने लगे ॥ 18

- वह घोर शब्द विदीर्ण सब कौरव हृदय करने लगा ।
चहुँ ओर गूँज वसुन्धरा आकाश मे भरने लगा ॥ 19
- सब कौरवों को देख रण का साज सब पूरा किये ।
शस्त्रादि चलने के समय अर्जुन कपिध्वज धनु लिये ॥ 20
- श्री कृष्ण से कहने लगे आगे बढा रथ लीजिये ।
दोनो दलों के बीच में अच्युत! खडा कर दीजिये ॥ 21
- करलूं निरीक्षण युद्ध में जो जो जुडे रणधीर हैं ।
इस युद्ध में माधव! मुझे जिन पर चलाने तीर हैं ॥ 22
- मै देखलूं रणहेतु जो आये यहाँ बलवान् हैं ।
जो चाहते दुर्बुद्धि दुर्योधन-कुमति-कल्याण हैं ॥ 23
- संजय ने कहा
श्रीकृष्ण ने जब गुडाकेश-विचार, भारत! सुन लिया ।
दोनो दलों के बीच में जाकर खडा रथ को किया ॥ 24
- राजा, रथी, श्रीभीष्म, द्रोणाचार्य के जा सामने ।
लो देखलो! कौरव कटक, अर्जुन कहा भगवान् ने ॥ 25
- तब पार्थ ने देखा वहाँ, सब हैं स्वजन बूढे बडे ।
आचार्य भाई पुत्र मामा, पौत्र प्रियजन हैं खडे ॥ 26
- स्नेही ससुर देखे खडे, कौन्तेय ने देखा जहाँ ।
दोनों दलों मे देखकर, प्रिय बन्धु बान्धव ही वहाँ ॥ 27
- कहने लगे इस भाँति तब, हो कर कृपायुत खिन्न-से ।

हे कृष्ण! रण मे देख कर, एक्त्र मित्र अभिन्न-से ॥ 28

होते शिथिल हैं अंग सारे, सूख मेरा मुख रहा ।
तन काँपता थर-थर तथा रोमाञ्च होता है महा ॥ 29

गांडीव गिरता हाथ से, जलता समस्त शरीर है ।
मै रह नहीं पाता खडा, मन भ्रमित और अधीर है ॥ 30

केशव! सभी विपरीत लक्षण दिख रहे, मन म्लान है ।
रण में स्वजन सब मार कर, दिखता नहीं कल्याण है ॥ 31

इच्छा नहीं जय राज्य की है, व्यर्थ ही सुख-भोग है ।
गोविन्द जीवन राज्य सुख का क्या हमें उपयोग है ॥ 32

जिनके लिये सुख-भोग सम्पत्ति राज्य की इच्छा रही ।
लडने खडे हैं आश तज धन और जीवन की वही ॥ 33

आचार्यगण, मामा, पितामह, सुत, सभी बूटे बडे ।
साले, ससुर, स्नेही, सभी प्रिय पौत्र सम्बन्धी खडे ॥ 34

क्या भूमि, मधुसूदन! मिले त्रैलोक्य का यदि राज्य भी ।
वे मारलें पर शस्त्र मैं उनपर न छोड़ूँगा कभी ॥ 35

इन को जनार्दन मारकर होगा हमें संताप ही ।
हैं आततायी मारने से पर लगेगा पाप ही ॥ 36

माधव! उचित वध है न इनका बन्धु है अपने सभी ।
निज बन्धुओं को मार कर क्या हम सुखी होंगे कभी ॥ 37

मति मन्द उनकी लोभ से, दिखता न उनको आप है ।

कुल-नाश से क्या दोष, प्रिय-जन-द्रोह से क्या पाप है ॥ 38

कुल-नाश दोषों का जनार्दन! जब हमें सब ज्ञान है ।
फिर क्यों न ऐसे पाप से बचना भला भगवान है ॥ 39

कुल नष्ट होते भ्रष्ट होता कुल-सनातन-धर्म है ।
जब धर्म जाता आ दबाता पाप और अधर्म है ॥ 40

जब वृद्धि होती पाप की कुल की बिगडती नारियाँ ।
हे कृष्ण! फलती फूलती तब वर्णसंकर क्यारियाँ ॥ 41

कुलघातकी को और कुल को ये गिराते पाप में ।
होता न तर्पण पिण्ड यों पडते पितर संताप में ॥ 42

कुल घातकों के वर्ण-संकर कार की इस पाप से ।
सारे सनातन, जाति कुल के धर्म मिटते आप से ॥ 43

इस भाँति से कुल-धर्म जिनके कृष्ण होते भ्रष्ट हैं ।
कहते सुना है वे सदा पाते नरक में कष्ट हैं ॥ 44

हम राज्य सुख के लोभ से हा! पाप यह निश्चय किये ।
उद्यत हुए सम्बन्धियों के प्राण लेने के लिये ॥ 45

यह ठीक हो यदि शस्त्र ले मारें मुझे कौरव सभी ।
निःशस्त्र हो मैं छोड दूँ करना सभी प्रति कार भी ॥ 46

संजय ने कहा
रणभूमि मे इस भाँति कहकर पार्थ धनु-शर छोडके ।
अति शोक से व्याकुल हुए बैठे वहीं मुख मोड के ॥ 47

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृष्णार्जुन संवादे अर्जुनविषादयोगोनाम प्रथमोऽध्यायः ॥

दूसरा अध्याय
सांख्य योग

संजय ने कहा

ऐसे कृपायुत अश्रुपूरित दुःख से दहते हुए ।
कौन्तेय से इस भाँति मधुसूदन वचन कहते हुए ॥ 1

श्री भगवान ने कहा

अर्जुन! तुम्हें संकट-समय में क्यों हुआ अज्ञान है ।
यह आर्य-अनुचित और नाशक स्वर्ग, सुख, सम्मान है ॥ 2

अनुचित नपुंसकता तुम्हें हे पार्थ! इसमें मत पडो ।
यह क्षुद्र कायरता परंतप! छोड कर आगे बढो । 3

अर्जुन ने कहा

किस भाँति मधुसूदन! समर में भीष्म द्रोणाचार्य पर ।
मैं बाण अरिसूदन चलाऊँ वे हमारे पूज्यवर ॥ 4

भगवन! महात्मा गुरुजनो का मारना न यथेष्ट है ।
इससे जगत में माँग भिक्षा पेट-पालन श्रेष्ठ है ॥
इन गुरुजनों को मार कर, जो अर्थलोलुप हैं बने ।
उनके रुधिर से ही सने, सुख भोग होंगे भोगने ॥ 5

जीते उन्हें हम या हमें वे, यह न हमको ज्ञांत है ।
यह भी नहीं हम जानते, हितकर हमें क्या बात है ॥
जीवित न रहना चाहते हम, मार कर रण मे जिन्हें ।
धृतराष्ट्र-सुत कौरव वही, लडने खडे हैं सामने ॥ 6

कायरपने से हो गया सब नष्ट सत्य-स्वभाव है ।
मोहित हुई मति ने भुलाया धर्म का भी भाव है ॥
आया शरण हूँ आपकी मैं शिष्य शिक्षा दीजिये ।
निश्चित कहो कल्याणकारी कर्म क्या मेरे लिये ॥ 7

धन-धान्य-शाली राज्य निष्कण्टक मिले संसार में ।
स्वामिन् सारे देवताओं का मिले विस्तार में ॥
कोई कहीं साधन मुझे फिर भी नहीं दिखता अहो ।
जिससे कि इन्द्रिय-तापकारी शोक सारा दूर हो ॥ 8

संजय ने कहा
इस भाँति कहकर कृष्ण से, राजन्! लडूंगा मैं नहीं ।
ऐसे वचन कह गुडाकेश अवाच्य हो बैठे वहीं ॥ 9

उस पार्थ से, रण-भूमि मे जो, दुःख से दहने लगे ।
हँसते हुए से वृषीकेश तुरन्त यों कहने लगे ॥ 10

श्री भगवान ने कहा
निःशोच्य का कर शोक कहता बात प्रज्ञावाद की ।
जीते मरे का शोक ज्ञानीजन नहीं करते कभी ॥ 11

मैं और तू राजा सभी देखो कभी क्या थे नहीं ।
यह भी असम्भव हम सभी अब फिर नहीं होंगे कहीं ॥ 12

ज्यों बालपन, यौवन जरा इस देह में आते सभी ।
त्यो जीव पाता देह और, न धीर मोहित हो कभी ॥ 13

शीतोष्ण या सुख-दुःख-प्रद कौन्तेय इन्द्रिय-भोग हैं ।

- आते व जाते हैं सही सब नाशवत संयोग हैं ॥ 14
- नर श्रेष्ठ! वह नर श्रेष्ठ हैं इनसे व्यथा जिसको नहीं ।
वह मोक्ष पाने योग्य है सुख दुःख जिसे समसब कहीं ॥ 15
- जो है असत् रहता नहीं, सत् का न किन्तु अभाव है ।
लखि अन्त इनका ज्ञानियों ने यों किया ठहराव है ॥ 16
- यह याद रख अविनाशि है जिसने किया जग व्याप्त है ।
अविनाशि का नाशक नहीं कोई कहीं पर्याप्त है ॥ 17
- इस देह में आत्मा अचिन्त्य सदैव अविनाशि अमर ।
पर देह उसकी नष्ट होती अस्तु अर्जुन! युद्ध कर ॥ 18
- है जीव मरने मारने वाला यही जो मानते ।
यह मारता मरता नहीं दोनों न वे जन जानते ॥ 19
- मरता न लेता जन्म, अब है, फिर यही होगा कहीं ।
शाश्वत, पुरातन, अज, अमर, तन वध किये मरता नहीं ॥ 20
- अव्यय अजन्मा नित्य अविनाशि इसे जो जानता ।
कैसे किसी का वध कराता और करता है बता ॥ 21
- जैसे पुराने त्याग कर नर वस्त्र नव बदलें सभी ।
यों जीर्ण तन को त्याग नूतन देह धरता जीव भी ॥ 22
- आत्मा न कटता शस्त्र से है, आग से जलता नहीं ।
सूखे न आत्मा वायु से, जल से कभी गलता नहीं ॥ 23
- छिदने न जलने और गलने सूखने वाला कभी ।

यह नित्य निश्चल, थिर, सनातन और है सर्वत्र भी ॥ 24

इन्द्रिय पहुँच से है परे, मन-चिन्तना से दूर है ।
अविकार इसको जान दुख में व्यर्थ रहना चूर है ॥ 25

यदि मानते हो नित्य मरता, जन्मता रहता यहीं ।
तो भी महाबाहो! उचित ऐसी कभी चिन्ता नहीं ॥ 26

जन्मे हुए मरते, मरे निश्चय जन्म लेते कहीं ।
ऐसी अटल जो बात है उसकी उचित चिन्ता नहीं ॥ 27

अव्यक्त प्राणी आदि में हैं मध्य में दिखते सभी ।
फिर अन्त में अव्यक्त, क्या इसकी उचित चिन्ता कभी ॥ 28

कुछ देखते आश्चर्य से, आश्चर्यवत कहते कहीं ।
कोई सुने आश्चर्यवत, पहिचानता फिर भी नहीं ॥ 29

सारे शरीरों में अमर आत्मा न वध होता किये ।
फिर प्रणियों का शोक यों तुमको न करना चाहिये ॥ 30

फिर देख कर निज धर्म, हिम्मत हारना अपकर्म है ।
इस धर्म-रण से बढ न क्षत्रिय का कहीं कुछ धर्म है ॥ 31

रण स्वर्गरूपी द्वार देखो खुल रहा है आप से ।
यह प्राप्त होता क्षत्रियों को युद्ध भाग्य-प्रताप से ॥ 32

तुम धर्म के अनुकूल रण से जो हटे पीछे कभी ।
निज धर्म खो अपकीर्ति लगे और लगे पाप भी ॥ 33

अपकीर्ति गायेंगे सभी फिर इस अमिट अपमान से ।

- अपकीर्ति, सम्मनित पुरुष को अधिक प्राण-पयान से ॥ 34
- रण छोड कर डर से भगा अर्जुन कहेंगे सब यही ।
सम्मान करते वीरवर जो तुच्छ जानेंगे वही ॥ 35
- कहने न कहने की खरी खोटी कहेंगे रिपु सभी ।
सामर्थ्य-निन्दा से घना दुख और क्या होगा कभी ॥ 36
- जीते रहे तो राज्य लगे, मर गये तो स्वर्ग में ।
इस भाँति निश्चय युद्ध का करके उठो अरिचर्ग में ॥ 37
- जय-हार, लाभालाभ, सुख-दुख सम समझकर सब कहीं ।
फिर युद्ध कर तुझको धनुर्धर! पाप यों होगा नहीं ॥ 38
- है सांख्य का यह ज्ञान अब सुन योग का शुभ ज्ञान भी ।
हो युक्त जिससे कर्म-बन्धन पार्थ छूटेंगे सभी ॥ 39
- आरम्भ इसमें है अमिट यह विघ्न बाधा से परे ।
इस धर्म का पालन तनिक भी सर्व संकट को हरे ॥ 40
- इस मार्ग में नित निश्चयात्मक बुद्धि अर्जुन एक है ।
बहु बुद्धियाँ बहु भेद-युत उनकी जिन्हें अविवेक है ॥ 41
- जो वेदवादी, कामना प्रिय, स्वर्गइच्छुक मूढ हैं ।
अतिरिक्त इसके कुछ नहीं बातें बढाकर यों कहें ॥ 42
- नाना क्रिया विस्तारयुत, सुख-भोग के हित सर्वदा ।
जिस जन्मरूपी कर्म-फल-प्रद बात को कहते सदा ॥ 43

- उस बात से मोहित हुए जो भोग-वैभव-रत सभी ।
व्यवसाय बुद्धि न पार्थ! उनकी हो समाधिस्थित कभी ॥ 44
- हैं वेद त्रिगुणों के विषय, तुम गुणातीत महान हो !
तज योग क्षेम व द्रुद्ध नित सत्त्वस्थ आत्मावान् हो ॥ 45
- सबओर करके प्राप्त जल, जितना प्रयोजन कूप का ।
उतना प्रयोजन वेद से, विद्वान् ब्राह्मण का सदा ॥ 46
- अधिकार केवल कर्म करने का, नहीं फल में कभी ।
होना न तू फल-हेतु भी; मत छोड देना कर्म भी ॥ 47
- आसक्ति सब तज सिद्धि और असिद्धि मान समान ही ।
योगस्थ होकर कर्म कर है योग समता-ज्ञान ही ॥ 48
- इस बुद्धियोग महान से सब कर्म अतिशयहीन हैं ।
इस बुद्धि की अर्जुन! शरण लो चाहते फल दीन हैं ॥ 49
- जो बुद्धि-युत है पाप-पुण्यों में न पडता है कभी ।
बन योगयुत, है योग ही यह कर्म में कौशल सभी ॥ 50
- नित बुद्धि-युत हो कर्म के फल त्यागते मतिमान हैं ।
वे जन्म-बन्धन तोड पद पाते सदैव महान हैं ॥ 51
- इस मोह के गंदले सलिल से पार मति होगी जभी ।
वैराग्य होगा सब विषय में जो सुना सुनना अभी ॥ 52
- श्रुति-भ्रान्त बुद्धि समाधि में निश्चल अचल होगी जभी ।
हे पार्थ! योग समत्व होगा प्राप्त यह तुझको तभी ॥ 53

अर्जुन ने कहा
केशव किसे दृढ-प्रज्ञजन अथवा समाधिस्थित कहें ।
थिर-बुद्धि कैसे बोलते, बैठें, चलें कैसे रहें ॥ 54

श्री भगवान ने कहा
हे पार्थ! मन की कामना जब छोड़ता है जन सभी ।
हो आप आपे में मगन दृढ-प्रज्ञ होता है तभी ॥ 55

सुख में न चाह, न खेद जो दुख में कभी अनुभव करे ।
थिर-बुद्धि वह मुनि, राग एवं क्रोध भयसे जो परे ॥ 56

शुभ या अशुभ जो भी मिले उसमें न हर्ष न शोक ही ।
निःस्नेह जो सर्वत्र है, थिर-बुद्धि होता है वही ॥ 57

हे पार्थ! ज्यों कछुआ समेटे अंग चारों छोर से ।
थिर-बुद्धि जब यों इन्द्रियाँ सिमटे विषय की ओर से ॥ 58

होते विषय सब दूर हैं आहार जब जन त्यागता ।
रस किन्तु रहता, ब्रह्म को कर प्राप्त वह भी भागता ॥ 59

कौन्तेय! करते यत्न इन्द्रिय-दमन हित विद्वान हैं ।
मन किन्तु बल से खैच लेती इन्द्रियाँ बलवान हैं ॥ 60

उन इन्द्रियों को रोक, बैठे योग युत मत्पर हुआ ।
आधीन जिसके इन्द्रियाँ, दृढ प्रज्ञ वह नित नर हुआ ॥ 61

चिन्तन विषय का, संग विषयों में बढाता है सभी ।
फिर संग से हो कामना, हो कामना से क्रोध भी ॥ 62

फिर क्रोध से है मोह, सुधि को मोह करता भ्रष्ट है ।
यह सुधि गए फिर बुद्धि विनशे, बुद्धि-विनशे नष्ट है ॥ 63

पर राग-द्वेष-विहीन सारी इन्द्रियाँ आधीन कर ।
फिर भोग करके भी विषय, रहता सदैव प्रसन्न नर ॥ 64

पाकर प्रसाद पवित्र जन के दुःख कट जाते सभी ।
जब चित्त नित्य प्रसन्न रहता, बुद्धि टूट होती तभी ॥ 65

रहकर अयुक्त न बुद्धि उत्तम भावना होती कहीं ।
बिन भावना नहि शान्ति और अशान्ति में सुख है नहीं ॥ 66

सब विषय विचरित इन्द्रियों में, साथ मन जिसके रहे ।
वह बुद्धि हर लेती, पवन से नाव ज्यों जल में बहे ॥ 67

चहुँ ओर से इन्द्रिय-विषय से इन्द्रियाँ जब दूर ही ।
रहती हटीं जिसकी सदा, टूट-प्रज्ञ होता है वही ॥ 68

सबकी निशा तब जागता, योगी पुरुष हे तात! है ।
जिसमें सभी जन जागते, ज्ञानी पुरुष की रात है ॥ 69

सब ओर से परिपूर्ण जलनिधि में सलिल जैसे सदा ।
आकर समाता, किन्तु अविचल सिन्धु रहता सर्वदा ॥
इस भाँति ही जिसमे विषय जाकर समा जाते सभी ।
वह शांति पाता है, न पाता काम-कामी जन कभी ॥ 70

सब त्याग इच्छा कामना, जो जन विचरता नित्य ही ।
मद और ममता हीन होकर, शांति पाता है वही ॥ 71

यह पार्थ! ब्रह्मीस्थिति इसे पा नर न मोहित हो कभी ।
निर्वाण पद हो प्राप्त इसमें ठैर अन्तिम काल भी ॥

72

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृष्णार्जुन संवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥

तीसरा अध्याय कर्म योग

अर्जुन ने कहा

यदि हे जनार्दन! कर्म से तुम बुद्धि कहते श्रेष्ठ हो ।
तो फिर भयंकर कर्म में मुझको लगाते क्यों कहो ॥ 1

उलझन भरे कह वाक्य, भ्रम-सा डालते भगवान हो ।
वह बात निश्चय कर कहो जिसमें मुझे कल्याण हो ॥ 2

श्री भगवान ने कहा

पहले कही दो भाँति निष्ठा, ज्ञानियों की ज्ञान से ।
फिर योगियों की योग-निष्ठा, कर्मयोग विधान से ॥ 3

आरम्भ बिन ही कर्म के निष्कर्म हो जाते नहीं ।
सब कर्म ही के त्याग से भी सिद्धि जन पाते नहीं ॥ 4

बिन कर्म रह पाता नहीं कोई पुरुष पल भर कभी ।
हो प्रकृति-गुण आधीन करने कर्म पडते हैं सभी ॥ 5

कर्मेन्द्रियों को रोक जो मन से विषय-चिन्तन करे ।
वह मूढ पाखण्डी कहाता दम्भ निज मन में भरे ॥ 6

जो रोक मन से इन्द्रियाँ आसक्ति बिन हो नित्य ही ।
कर्मेन्द्रियों से कर्म करता श्रेष्ठ जन अर्जुन! वही ॥ 7

बिन कर्म से नित श्रेष्ठ नियमित-कर्म करना धर्म है ।
बिन कर्म के तन भी न सधता कर नियत जो कर्म है ॥ 8

- तज यज्ञ के शुभ कर्म, सारे कर्म बन्धन पार्थ! हैं ।
अतएव तज आसक्ति सब कर कर्म जो यज्ञार्थ है ॥ 9
- विधि ने प्रजा के साथ पहिले यज्ञ को रच के कहा ।
पूरे करे यह सब मनोरथ, वृद्धि हो इससे महा ॥ 10
- मख से करो तुम तुष्ट सुरगण, वे करें तुमको सदा ।
ऐसे परस्पर तुष्ट हो, कल्याण पाओ सर्वदा ॥ 11
- मख-तृप्त हो सुर कामना पूरी करेंगे नित्य ही ।
उनका दिया उनको न दे, जो भोगता तस्कर वही ॥ 12
- जो यज्ञ में दे भाग खाते पाप से छुट कर तरें ।
तन हेतु जो पापी पकाते पाप भक्षण वे करें ॥ 13
- सम्पूर्ण प्राणी अन्न से हैं, अन्न होता वृष्टि से ।
यह वृष्टि होती कर्म से, जो कर्म की शुभ सृष्टि से ॥ 14
- फिर कर्म होते ब्रह्म से हैं, ब्रह्म अक्षर से कहा ।
यों यज्ञ में सर्वत्र-व्यापी, ब्रह्म नित ही रम रहा ॥ 15
- चलता न जो इस भाँति चलते चक्र के अनुसार है ।
पापायु इन्द्रियलम्पटी वह व्यर्थ ही भू-भार है ॥ 16
- जो आत्मरत रहता निरन्तर, आत्म तृप्त विशेष है ।
संतुष्ट आत्मा में, उसे करना नहीं कुछ शेष है ॥ 17
- उसको न कोई लाभ है करने न करने से कहीं ।
हे पार्थ! प्राणीमात्र से उसको प्रयोजन है नहीं ॥ 18

- अतएव तज आसक्ति, कर कर्तव्य कर्म सदैव ही ।
यों कर्म जो करता परम पद प्राप्त करता है वही ॥ 19
- जनकादि ने भी सिद्धि पाई कर्म ऐसे ही किये ।
फिर लोकसंग्रह देख कर भी कर्म करना चाहिये ॥ 20
- जो कार्य करता श्रेष्ठ जन करते वही है और भी ।
उनके प्रमाणित-पंथ पर ही पैर धरते हैं सभी ॥ 21
- अप्राप्त मुझको कुछ नहीं, जो प्राप्त करना हो अभी ।
त्रैलोक्य में करना न कुछ, पर कर्म करता मैं सभी ॥ 22
- आलस्य तजके पार्थ!मैं यदि कर्म में वरतूँ नहीं ।
सब भाँति मेरा अनुकरण ही नर करेंगे सब कहीं ॥ 23
- यदि छोड़दूँ मैं कर्म करना, लोक सारा भ्रष्ट हो ।
मैं सर्व संकर का बनूँ कर्ता, सभी जग नष्ट हो ॥ 24
- ज्यों मूढ मानव कर्म करते नित्य कर्मासक्त हो ।
यो लोकसंग्रह-हेतु करता कर्म, विज्ञ विरक्त हो ॥ 25
- ज्ञानी न डाले भेद कर्मासक्त की मति मे कभी ।
वह योग-युत हो कर्म कर, उनसे कराये फिर सभी ॥ 26
- होते प्रकृति के ही गुणों से सर्व कर्म विधान से ।
मैं कर्म करता, मूढ-मानव मानता अभिमान से ॥ 27
- गुण और कर्म विभाग के सब तत्त्व जो जन जानता ।
होता न वह आसक्त गुण का खेल गुण मे मानता ॥ 28

गुण कर्म में आसक्त होते प्रकृतिगुण मोहित सभी ।
उन मंद मूढ़ों को करे विचलित न ज्ञानी जन कभी ॥ 29

अध्यात्म-मति से कर्म अर्पण कर मुझे आगे बढो ।
फल-आश ममता छोडकर निश्चिन्त होकर फिर लडो ॥ 30

जो दोष-बुद्धि विहीन मानव नित्य श्रद्धायुक्त है ।
मेरे सुमत अनुसार करके कर्म वे नर मुक्त हैं ॥ 31

जो दोष-दर्शी मूढमति मत मानते मेरा नहीं ।
वे सर्वज्ञान-विमूढ नर नित नष्ट जानों सब कहीं । 32

वर्ते सदा अपनी प्रकृति अनुसार ज्ञान-निधान भी ।
निग्रह करेगा क्या, प्रकृति अनुसार हैं प्राणी सभी ॥ 33

अपने विषय मे इन्द्रियों को राग भी है द्वेष भी ।
ये शत्रु हैं, वश मे न इन के चाहिये आना कभी ॥ 34

ऊँचे सुलभ पर-धर्म से निज विगुण धर्म महान् है ।
परधर्म भयप्रद, मृत्यु भी निज धर्म में कल्याण है ॥ 35

अर्जुन ने कहा
भगवन् ! कहो करना नहीं नर चाहता जब आप है ।
फिर कौन बल से खींच कर उससे कराता पाप है । 36

श्री भगवान ने कहा
पैदा रजोगुण से हुआ यह काम ही यहा क्रोध ही ।
पेटू महापापी कराता पाप है बैरी यही ॥ 37

ज्यों गर्भ झिल्ली से, धुएँ से आग, शीशा धूल से ।
यों काम से रहता ढका है, ज्ञान भी (आमूल) से ॥ 38

यह काम शत्रु महान्, नित्य अतृप्त अग्नि समान है ।
इससे ढका कौन्तेय! सारे ज्ञानियों का ज्ञान है ॥ 39

मन, इन्द्रियों मे, बुद्धि में यह वास बैरी नित करे ।
इनके सहारे ज्ञान ढक, जीवात्म को मोहित करे ॥ 40

इन्द्रिय-दमन करके करो फिर नाश शत्रु महान् का ।
पापी सदा यह नाशकारी ज्ञान का विज्ञान का ॥ 41

हैं श्रेष्ठ इन्द्रिय, इन्द्रियों से पार्थ मनमानो परे ।
मन से परे फिर बुद्धि, आत्मा बुद्धि से जानो परे ॥ 42

यों बुद्धि से आत्मा परे है जान इसके ज्ञान को ।
मन वश्य करके जीत दुर्जय काम शत्रु महान को ॥ 43

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृष्णार्जुन संवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

चौथा अध्याय
ज्ञानकर्म-संन्यास योग

श्री भगवान ने कहा
मैं ने कहा था सूर्य के प्रति योग यह अव्यय महा ।
फिर सूर्य ने मनु से कहा, इक्ष्वाकु से मनु ने कहा ॥ 1

यों राज-ऋषि परिचित हुए सुपरम्परागत योग से ।
इस लोक में वह मिट गया बहु काल संयोग से ॥ 2

मैंने समझकर यह पुरातन योग-श्रेष्ठ रहस्य है ।
तुझ से कहा सब क्यों कि तू मम भक्त और वयस्य है ॥ 3

अर्जुन ने कहा
पैदा हुए थे सूर्य पहले आप जन्मे हैं अभी ।
मौ मानलूं कैसे कहा यह आपने उनसे कभी ॥ 4

श्री भगवान ने कहा
मैं और तू अर्जुन! अनेकों बार जन्मे हैं कहीं ।
सब जानता हूँ मैं परन्तप! ज्ञान तुझको है नहीं । 5

यद्यपि अजन्मा, प्राणियों का ईश मैं अव्यय परम् ।
पर निज प्रकृति आधीन कर, लूँ जन्म माया से स्वयम् ॥ 6

हे पार्थ! जब जब धर्म घटता और बढता पाप ही ।
तब तब प्रकट मैं रूप अपना नित्य करता आप ही ॥ 7

सज्जन जनों का त्राण करने दुष्ट-जन-संहार-हित ।

- युग-युग प्रकट होता स्वयं मैं, धर्म के उद्धार हित ॥ 8
- जो दिव्य मेरा जन्म कर्म रहस्य से सब जान ले ।
मुझमें मिले तन त्याग अर्जुन! फिर न वह जन जन्म ले । 9
- मन्मथ ममाश्रित जन हुए भय क्रोध राग-विहीन हैं ।
तप यज्ञ से हो शुद्ध बहु मेझमें हुए लवलीन हैं ॥ 10
- जिस भाँति जो भजते मुझे उस भाँति दूँ फल भोग भी ।
सब ओर से ही वर्तते मम मार्ग में मानव सभी ॥ 11
- इस लोक में करते फलेच्छुक देवता-आराधना ।
तत्काल होती पूर्ण उनकी कर्म फल की साधना ॥ 12
- मैंने बनाये कर्म गुण के भेद से चहुँ वर्ण भी ।
कर्ता उन्हीं का जान तू, अव्यय अकर्ता मैं सभी ॥ 13
- फल की न मुझको चाह बँधता मैं न कर्मों से कहीं ।
यों जानता है जो मुझे वह कर्म से बँधता नहीं ॥ 14
- यह जान कर्म मुमुक्षु पुरुषों ने सदा पहले किये ।
प्राचीन पूर्वज-कृत करो अब कर्म तुम इस ही लिये ॥ 15
- क्या कर्म और अकर्म है भूले इसे विद्वान् भी ।
जो जान पापों से छुटो, वह कर्म कहता हूँ सभी ॥ 16
- हे पार्थ! कर्म अकर्म और विकर्म का क्या ज्ञान है ।
यह जान लो सब, कर्म की गति गहन और महान् है ॥ 17
- जो कर्म में देखे अकर्म, अकर्म में भी कर्म ही ।

- है योग-युत ज्ञानी वही, सब कर्म करता है वही ॥ 18
- ज्ञानी उसे पण्डित कहें उद्योग जिसके हों सभी ।
फल वासना बिन, भस्म हों ज्ञानाग्नि में सब कर्म भी ॥ 19
- जो है निराश्रय तृप्त नित, फल कामनाएँ तज सभी ।
वह कर्म सब करता हुआ, कुछ भी नहीं करता कभी ॥ 20
- जो कमाना तज, सर्व संग्रह त्याग, मन वश में करे ।
केवल करे जो कर्म दैहिक, पाप से है वह परे ॥ 21
- बिन द्वेष द्वन्द्व असिद्धि सिद्धि समान है जिसको सभी ।
जो है यदृच्छा-लाभ-तृप्त न बढ़ वह कर कर्म भी ॥ 22
- चित ज्ञान में जिसका सदा जो मुक्त संग-विहीन हों ।
यज्ञार्थ करते कर्म उनके सर्व कर्म विलीन हों ॥ 23
- मख ब्रह्म से, ब्रह्माग्नि में, हवि ब्रह्म, अर्पण ब्रह्म है ।
सब कर्म जिसको ब्रह्म, करता प्राप्त वह जन ब्रह्म है ॥ 24
- योगी पुरुष कुछ दैव-यज्ञ उपासना में मन धरें ।
ब्रह्माग्नि में कुछ यज्ञ द्वारा यज्ञ ज्ञानी जन करें ॥ 25
- कुछ होमते श्रोत्रादि इन्द्रिय संयमों की आग में ।
इन्द्रिय-अनल में कुछ विषय शब्दादि आहुति दे रमें ॥ 26
- कर आत्म-संयमरूप योगानल प्रदीप्त सुज्ञान से ।
कुछ प्राण एवं इन्द्रियों के कर्म होमें ध्यान से ॥ 27
- कुछ संयमी जन यज्ञ करते योग, तप से, दान से ।

स्वाध्याय से करते यती, कुछ यज्ञ करते ज्ञान से ॥ 28

कुछ प्राण में होमे अपान व प्राणवायु अपान में ।
कुछ रोक प्राण अपान प्राणायाम ही के ध्यान में ॥ 29

कुछ मिताहारी हवन करते, प्राण ही में प्राण है ।
क्षय पाप यज्ञों से किये, वे यज्ञ-विज्ञ महान है ॥
जो यज्ञ का अवशेष खाते, ब्रह्म को पाते सभी ।
परलोक तो क्या, यज्ञ-त्यागी को नहीं यह लो क भी ॥ 30

बहु भाँति से यों ब्रह्म-मुख में यज्ञ का विस्तार है ।
होते सभी हैं कर्म से, यह जान कर निस्तार है ॥ 31

धन-यज्ञ से समझो सदा ही ज्ञान-यज्ञ प्रधान है ।
सब कर्म का नित ज्ञान मे ही पार्थ! पर्यवसान है ॥ 32

सेवा विनय प्रणिपात पूर्वक प्रश्न पूछो ध्यान से ।
उपदेश देंगे ज्ञान का तब तत्त्व-दर्शी ज्ञान से । 33

होगा नहीं फिर मोह ऐसे श्रेष्ठ शुद्ध विवेक से ।
तब ही दिखेंगे जीव मुझमें और तुझ में एक से ॥ 34

तेरा कहीं यदि पापियों से घोर पापाचार हो ।
इस ज्ञान-नय्या से सहज में पाप-सागर पार हो ॥ 35

ज्यों पार्थ! पावक प्रज्वलित इधन जलाती है सदा ।
ज्ञानाग्नि सारे कर्म करती भस्म यों ही सर्वदा ॥ 36

इस लोक मे साधन पवित्र न और ज्ञान समान है ।

योगी पुरुष पाकर समय पाता स्वयं ही ज्ञान है ॥ 37

जो कर्म-तत्पर है जितेन्द्रिय और श्रद्धावान् है ।
वह प्राप्त करके ज्ञान पाता शीघ्र शान्ति महान् है ॥ 38

जिसमें न श्रद्धा ज्ञान, संशयवान् डूबें सब कहीं ।
उसके लिये सुख, लोक या परलोक कुछ भी है नहीं ॥ 39

तज योग-बल से कर्म, काटे ज्ञान से संशय सभी ।
उस आत्मज्ञानी को न बांधे कर्म बन्धन में कभी ॥
अज्ञान से जो भ्रम हृदय में, काट ज्ञान कृपान से ।
अर्जुन खडा हो युद्ध कर, हो योग आश्रित ज्ञान से । 40

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृष्णार्जुन संवादे ज्ञानकर्म संन्यास योगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

पांचवां अध्याय कर्मसंन्यास योग

अर्जुन ने कहा

कहते कभी हो योग को उत्तम कभी संन्यास को ।
हे कृष्ण! निश्चय कर कहो वह एक जिससे श्रेय हो ॥ 1

श्री भगवान ने कहा

संन्यास एवं योग दोनों मोक्षकारी हैं महा ।
संन्यास पर कर्मयोग महान् हितकारी कहा ॥ 2

है नित्य संन्यासी न जिसमें द्वेष या इच्छा रही ।
तज द्रुद्ध सुख से सर्व बन्धन-मुक्त होता है वही ॥ 3

है सांख्य योग विभिन्न कहते मूढ, नहीं पण्डित कहें ।
पाते उभय फल एक के जो पूर्ण साधन में रहें ॥ 4

पाते सुगति जो सांख्य-ज्ञानी कर्म-योगी भी वही ।
जो सांख्य, योग समान जाने तत्त्व पहिचाने सही ॥ 5

निष्काम-कर्म-विहीन हो, पाना कठिन संन्यास है ।
मुनि कर्मयोगी शीघ्र करता ब्रह्म ही में वास है ॥ 6

जो योगयुत है, शुद्ध मन, निज आत्मयुत देखें सभी ।
वह आत्म-इन्द्रिय जीत जन, नहीं लिप्त करके कर्म भी ॥ 7

तत्त्वज्ञ समझे युक्त मैं करता न कुछ खाता हुआ ।
पाता निरखता सूँघता सुनता हुआ जाता हुआ ॥ 8

- छुते व सोते साँस लेते छोडते या बोलते ।
वर्ते विषय में इन्द्रियाँ दृग बन्द करते खोलते ॥ 9
- आसक्ति तज जो ब्रह्म-अर्पण कर्म करता आप है ।
जैसे क मल को जल नहीं लगता उसे यों पाप है ॥ 10
- मन, बुद्धि, तन से और केवल इन्द्रियों से भी क भी ।
तज संग, योगी कर्म करते आत्म-शोधन-हित सभी ॥ 11
- फल से सदैव विरक्त हो चिर-शान्ति पाता युक्त है ।
फल-कामना में सक्त हो बँधता सदैव अयुक्त है ॥ 12
- सब कर्म तज मन से जितेन्द्रिय जीवधारी मोद से ।
बिन कुछ कराये या किये नव-द्वार-पुर में नित बसे ॥ 13
- कर्तुत्व कर्म न, कर्म-फल-संयोग जगदीश्वर कभी ।
रचता नहीं अर्जुन! सदैव स्वभाव करता है सभी ॥ 14
- ईश्वर न लेता है किसी का पुण्य अथवा पाप ही ।
है ज्ञान माया से ढका यों जीव मोहित आप ही ॥ 15
- पर दूर होता ज्ञान से जिनका-हृदय अज्ञान है ।
करता प्रकाशित तत्त्व उनका ज्ञान सूर्य समान है ॥ 16
- तन्निष्ठ तत्पर जो उसी में, बुद्धि मन धरते वहीं ।
वे ज्ञान से निष्पाप होकर जन्म फिर लेते नहीं ॥ 17
- विद्या-विनय-युत-द्विज, श्वपच, चाहे गरु, गज, श्वान है ।
सबके विषय में ज्ञानियों की दृष्टि एक समान है ॥ 18

- जो जन रखें मन साम्य में वे जीत लेते जग यहीं ।
पर ब्रह्म सम निर्दाश है, यों ब्रह्म में वे सब कहीं ॥ 19
- प्रिय वस्तु पा न प्रसन्न, अप्रिय पा न जो सुख-हीन है ।
निर्माह दृढ-मति ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म में लवलीन है ॥ 20
- नहिं भोग-विषयायुक्त जो जन आत्म-सुख पाता वही ।
वह ब्रह्मयुत, अनुभव करे अक्षय महा सुख नित्य ही ॥ 21
- जो बाहरी संयोग से हैं भोग दुख कारण सभी ।
है आदि उनका अन्त, उनमें विज्ञ नहिं रमते कभी ॥ 12
- जो काम-क्रोधावेग सहता है मरण पर्यन्त ही ।
संसार में योगी वही नर सुख सदा पाता वही ॥ 13
- जो आत्मरत अन्तः सुखी है ज्योति जिसमें व्याप्त है ।
वह युक्त ब्रह्म-स्वरूप हो निर्वाण करता प्राप्त है ॥ 14
- निष्पाप जो कर आत्म-संयम दृढ बुद्धि-विहीन है ।
रत जीवहित में, ब्रह्म में होते वही जन लीन है ॥ 15
- यति काम क्रोध विहीन जिनमें आत्म-ज्ञान प्रधान है ।
जीता जिन्होंने मन उन्हें सब ओर ही निर्वाण है ॥ 16
- धर दृष्टि भृकृति मध्य मं तज बाह्य विषयों को सभी ।
नित नासिकाचारी किये सम प्राण और अपान भी ॥ 17
- वश में करे मन बुद्धि इन्द्रिय मोक्ष में जो युक्त है ।
भय क्रोध इच्छा त्याग कर वह मुनि सदा ही मुक्त है ॥ 18

जाने मुझे तप यज्ञ भोक्ता लोक स्वामी नित्य ही ।
सब प्राणियों का मित्र जाने शांति पाता है वही ॥

19

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृष्णार्जुन संवादे संन्यास योगोनाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

छटा अध्याय आत्मसंयम योग

श्री भगवान ने कहा

फल आश तज, कर्त्तव्य कर्म सदैव जो करता, वही
येगी व संन्यासी, न जो बिन अग्नि या बिन कर्म ही ॥ 1

वह योग ही समझो जिसे संन्यास कहते हैं सभी ।
संकल्प के संन्यास बिन बनता नहीं योगी कभी ॥ 2

जो योग-साधन चाहता मुनि, हेतु उसका कर्म है ।
हो योग में आरूढ, उसका हेतु उपशम धर्म है ॥ 3

जब दूर विषयों से, न हो आसक्त कर्मों में कभी ।
संकल्प त्यागे सर्व, योगारूढ कहलाता तभी ॥ 4

उद्धार अपना आप कर, निज को न गिरने दे कभी ।
नर आप ही है शत्रु अपना, आप ही है मित्र भी ॥ 5

जो जीत लेता आपको वह बन्धु अपना आप ही ।
जाना न अपने को स्वयं रिपु सी करे रिपुता वही ॥ 6

अति शान्त जन, मन जीत का आत्मा सदैव समान है ।
सुख-दुःख, शीतल-ऊष्ण अथवा मान या अपमान है ॥ 7

कूटस्थ इन्द्रिय जीत जिसमें ज्ञान है विज्ञान है ।
वह युक्त जिसको स्वर्ण, पत्थर, धूल एक समान है ॥ 8

वैरी, सुहृद, मध्यस्थ, साधु, असाधु, जिनसे द्वेष है ।

- बान्धव, उदासी, मित्र में सम बुद्धि पुरुष विशेष है ॥ 9
- चित्त-आत्म-संयम नित्य एकाकी करे एकान्त में ।
तज आश-संग्रह नित निरन्तर योग में योगी रमें ॥ 10
- आसन धरे शुचि-भूमि पर थिर, ऊँच नीच न ठौर हो ।
कुश पर बिछा मृगछाल, उस पर वस्त्र पावन और हो ॥ 11
- एकाग्र कर मन, रोक इन्द्रिय चित्त के व्यापार को ।
फिर आत्म-शोधन हेतु बैठे नित्य योगाचार को । 12
- होकर अचल, दृढ, शीश ग्रीवा और काया सम करे ।
दिशि अन्य अवलोके नहीं नासग्र पर ही दृग धरे ॥ 13
- बन ब्रह्मचारी शान्त, मन-संयम करे भय मुक्त हो ।
हो मत्परायण चित्त मुझमें ही लगाकर युक्त हो ॥ 14
- यों जो नियत-चित्त युक्त योगाभ्यास में रत नित्य ही ।
मुझमें टिकी निर्वाण परमा शान्ति पाता है वही ॥ 15
- यह योग अति खाकर न सधता है न अति उपवास से ।
सधता न अतशय नींद अथवा जागराण के त्रास से ॥ 16
- जब युक्त सोना जागना आहार और विहार हों ।
हो दुःख-हारी योग जब परिमित सभी व्यवहार हों । 17
- संयत हुआ चित्त आत्मा ही में नित्य रम रहता जभी ।
रहती न कोई कामना नर युक्त कहलाता तभी ॥ 18
- अविचल रहे बिन वायु दीपक-ज्योति जैसे नित्य ही ।

- है चित्त संयत योग-साधक युक्त की उपमाा वही ॥ 19
- रमता जहाँ चित्त योग-सेवन से निरुद्धसदैव है ।
जब देख अपने आपको सन्तुष्ट आत्मा में रहे ॥ 20
- इन्द्रिय-अगोचर बुद्धि-गम्य अनन्त सुख अनुभव करे ।
जिसमे रमा योगी न डिगता तत्त्व से तिल भर परे ॥ 21
- न पाकर जिसे जग मे न उत्तम लाभ दिखता है कहीं ।
जिसमे जमे जन को कठिन दुख भी डिगा पाता नहीं । 22
- कहते उसे ही योग जिसमें सर्व दुःख-वियोग है ।
दृढ-चित्त होकर साधने के योग्य ही यह योग है ॥ 23
- संकल्प से उत्पन्न सारी कामनाएँ छोड के ।
मनसे सदा सब ओर से ही इन्द्रियों को मोड के ॥ 24
- हो शान्त क्रमशः धीर मति से आत्म-सुस्थिर मन करे ।
कोई विषय का फिर न किंचित् चित्त में चिन्तन करे ॥ 25
- यह मन चपल अस्थिर जहाँ से भाग कर जाये परे ।
रोके वहीं से और फिर आधीन आत्मा के करे ॥ 26
- जो ब्रह्मभूत, प्रशान्त-मन, जन रज रहित निष्पाप है ।
उस कर्मयोगी को परम सुख प्राप्त होता आप है ॥ 27
- निष्पाप हो इस भाँति जो करता निरन्तर योग है ।
वह ब्रह्म-प्राप्ति-स्वरूप-सुख करता सदा उपभोग है ॥ 28
- युक्तात्म समदर्शी पुरुष सर्वत्र ही देखे सदा ।

मैं प्राणियों में और प्राणिमात्र मुझमें सर्वदा ॥ 29

जो देखता मुझमें सभी को और मुझको सब कहीं।
मैं दूर उस नर से नहीं वह दूर मुझसे है नहीं ॥ 30

एकत्व-मति से जान जीवों में मुझे नर नित्य ही ।
भजता रहे जो, सर्वथा कर कर्म मुझमे है वही ॥ 31

सुख-दुःख अपना और औरों का समस्त समान है ।
जो जानता अर्जुन! वही योगी सदैव प्रधान है ॥ 32

अर्जुन ने कहा
जो साम्य मति से प्राप्य तुमने योग मधुसूदन! कहा ।
मन की चपलता से महा अस्थिर मुझे वह दिख रहा ॥ 33

हे कृष्ण! मन चञ्चल हठी बलवान् है दृढ है घना ।
मन साधना दुष्कर दिखे जैसे हवा का बाँधना ॥ 34

श्री भगवान ने कहा
चञ्चल असंशय मन महाबाहो! कठिन साधन घना ।
अभ्यास और विराग से पर पार्थ! होती साधना ॥ 35

जीता न जो मन, योग है दुष्प्राप्य मत मेरा यही ।
मन जीत कर जो यत्न करता प्राप्त करता है वही ॥ 36

अर्जुन ने कहा
जो योग-विचलित यत्नहीन परन्तु श्रद्धावान हो ।
वह योग-सिद्धि न प्राप्त कर, गति कौनसी पाता कहो ॥ 37

- मोहित निराश्रय ब्रह्म-पथ में हो उभय पथ-भ्रष्ट क्या ।
वह बादलों-सा छिन्न हो, होता सदैव विनष्ट क्या ? 38
- हे कृष्ण करुणा कर सकल सन्देह मेरा मेटिये ।
तज कर तुम्हें है कौन यह भ्रम दूर करने के लिये ? 39
- श्री भगवान ने कहा
इस लोक में परलोक में वह नष्ट होता है नहीं ।
कल्याणकारी-कर्म करने में नहीं दुर्गति कहीं ॥ 40
- शुभ लोक पाकर पुण्यवानों का, रहे वर्षों वहीं ।
फिर योग विचलित जन्मता श्रीमान् शुचि के घर कहीं । 41
- या जन्म लेता श्रेष्ठ ज्ञानी योगियों के वंश में ।
दुर्लभ सदा संसार में है जन्म ऐसे अंश में ॥ 42
- पाता वहाँ फिर पूर्व-मति-संयोग वह नर रत्न है ।
उस बुद्धि से फिर सिद्धि के करता सदैव प्रयत्न है ॥ 43
- हे पार्थ पूर्वाभ्यास से खिंचता उधर लाचार हो ।
हो योग-इच्छुक वेद-वर्णित कर्म-फल से पार हो ॥ 44
- अति यत्न से वह योगसेवी सर्वपाप-विहीन हो ।
बहु जन्म पीछे सिद्ध होकर परम गति में लीन हो ॥ 45
- सारे तपस्वी ज्ञानियों से कर्मनिष्ठों से सदा ।
है श्रेष्ठ योगी पार्थ ! हो इस हेतु योगी सर्वदा ॥ 46
- सब योगियों में मानता मैं युक्ततम योगी वही ।

श्रद्धा सहित मम ध्यान धर भजता मुझे जो नित्य ही ॥ 47

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृष्णार्जुन संवादे ध्यानयोगोनाम षष्ठोऽध्यायः ॥

सातवां अध्याय ज्ञान विज्ञान योग

श्री भगवान ने कहा

मुझमें लगा कर चित्त मेरे आसरे कर योग भी ।
जैसा असंशय पूर्ण जानेगा मुझे वह सुन सभी ॥ 1

विज्ञान-युत वह ज्ञान कहता हूँ सभी विस्तार में ।
जो जान कर कुछ जानना रहता नहीं संसार में ॥ 2

कोई सहस्रों मानवों में सिद्धि करना ठानता ।
उन यत्नशीलों में मुझे कोई यथावत जानता ॥ 3

पृथ्वी, पवन, जल, तेज, नभ, मन, अहंकार व बुद्धि भी ।
इन आठ भागों में विभाजित है प्रकृति मेरी सभी ॥ 4

हे पार्थ! वह अपरा प्रकृति का जान लो विस्तार है ।
फिर है परा यह जीव जो संसार का आधार है ॥ 5

उत्पन्न दोनों से इन्ही से जीव है जग के सभी ।
मैं मूल सब संसार का हूँ और मैं ही अन्त भी ॥ 6

मुझसे परे कुछ भी नहीं संसार का विस्तार है ।
जिस भाँति माला में मणि, मुझमें गुथा संसार है ॥ 7

आकाश में ध्वनि, नीर में रस, वेद में ॐ कार हूँ ।
पौरुष पुरुष में, चाँद सूरज में प्रभामय सार हूँ ॥ 8

शुभ गन्ध वसुधा में सदा मैं प्रणियों में प्राण हूँ ।

- मै अग्नि में हूँ तेज, तपियों में तपस्या यान हूँ ॥ 9
- हे पार्थ! जीवों का सनातन बीज हूँ, आधार हूँ ।
तेजस्वियों में तेज, बुध में बुद्धि का भण्डार हूँ ॥ 10
- हे पार्थ! मैं कामादि राग विहीन बल बलवान का ।
मैं काम भी हूँ धर्म के अविरोध विद्यावान का ॥ 11
- सत और रज, तम भाव मुझसे ही हुए हैं ये सभी ।
मुझ में सभी ये किन्तु मैं उनमें नहीं रहता कभी ॥ 12
- इन त्रिगुण भावों में सभी भूला हुआ संसार है ।
जाने न अव्यय-तत्त्व मेरा जो गुणों से पार है ॥ 13
- यह त्रिगुणदेवी घोर माया अगम और अपार है ।
आता शरण मेरी वही जाता सहज में पार है ॥ 14
- पापी, नराधम, ज्ञान माया ने हरा जिनका सभी ।
वे मूढ आसुर बुद्धि-वश मुझको नहीं भजते कभी ॥ 15
- अर्जुन! मुझे भजता सुकृति-समुदाय चार प्रकार का ।
जिज्ञासु, ज्ञानीजन, दुखी-मन, अर्थ-प्रिय संसार का ॥ 16
- नित-युक्त ज्ञानी श्रेष्ठ, जो मुझमें अनन्यासक्त है ।
मैं क्योंकि ज्ञानी को परम प्रिय, प्रिय मुझे वह भक्त है ॥ 17
- ये सब उदार, परन्तु मेरा प्राण ज्ञानी भक्त है ।
वह युक्त जन, सर्वोच्च-गति मुझमें सदा अनुरक्त है ॥ 18

- जन्मान्तरों में जानकर, 'सब वासुदेव यथार्थ है' ।
ज्ञानी मुझे भजता, सुदुर्लभ वह महात्मा पार्थ! है ॥ 19
- निज प्रकृति-प्रेरित, कामना द्वारा हुए हत ज्ञान से ।
कर नियम भजते विविध विध नर अन्य देव विधान से ॥ 20
- जो जो कि जिस जिस रूप की पूजा करे नर नित्य ही ।
उस भक्त की करता उसी में, मैं अचल श्रद्धा वही ॥ 21
- उस देवता को पूजता फिर वह, वही श्रद्धा लिये ।
निज इष्ट-फल पाता सकल, निर्माण जो मैं ने किये ॥ 22
- ये मन्दमति नर किन्तु पाते, अन्तवत फल सर्वादा ।
सुर-भक्त सुर में, भक्त मेरे, आ मिलें मुझ में सदा ॥ 23
- अव्यक्त मुझको व्यक्त, मानव मूढ लेते मान हैं ।
अविनाशि अनुपम भाव मेरा वे न पाते जान हैं ॥ 24
- निज योगमाया से ढका सबको न मैं दिखता कहीं ।
अव्यय अजन्मा मैं, मुझे पर मूढ नर जाने नहीं ॥ 25
- होंगे, हुए हैं, जीव जो मुझको सभी का ज्ञान है ।
इनको किसी को किन्तु कुछ मेरी नहीं पहिचान है ॥ 26
- उत्पन्न इच्छा द्वेष से जो द्वन्द्व जग में व्याप्त है ।
उनसे परंतप! सर्व प्राणी मोह करते प्राप्त हैं ॥ 27
- पर पुण्यवान् मनुष्य जिनके छुट गये सब पाप हैं ।
दृढ द्वन्द्व-मोह-विहीन हो भजते मुझे वे आप हैं ॥ 28

करते ममाश्रित जो जरा-मृति-मोक्ष के हित साधना ।
वे जानते हैं ब्रह्म, सब अध्यात्म, कर्म महामना ॥ 29

अधि-भूत, दैव व यज्ञ-युत, जो विज्ञ मुझको जानते ।
वे युक्त-चित मरते समय में भी मुझे पहिचानते ॥ 30

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृष्णार्जुन संवादे ज्ञानविज्ञान योगोनाम सप्तमोऽध्यायः ॥

आठवां अध्याय अक्षर ब्रह्म योग

अर्जुन ने कहा

हे कृष्ण! क्या वह ब्रह्म? क्या अध्यात्म? क्या कर्म है ?
अधिभूत कहते हैं किसे? अधिदैव का क्या मर्म है ?

1

इस देह में अधियज्ञ कैसे और किसको मानते ?
मरते समय कैसे जितेन्द्रिय जन तुम्हें पहिचानते ?

2

श्री भगवान ने कहा

अक्षर परम वह ब्रह्म है, अध्यात्म जीव स्वभाव ही ।
जो भूत भावोद्भव करे व्यापार कर्म कहा वही ॥

3

अधिभूत नश्चर भाव है, चेतन पुरुष अधिदैव ही ।
अधियज्ञ मैं सब प्राणियों के देह बीच सदैव ही ॥

4

तन त्यागता जो अन्त में मेरा मनन करता हुआ ।
मुझमें असंशय नर मिले वो ध्यान यों धरता हुआ ॥

5

अन्तिम समय तन त्यागता जिस भाव से जन व्याप्त हो ।
उसमें रंगा रहकर सदा, उस भाव ही को प्राप्त हो ॥

6

इस हेतु मुझको नित निरन्तर ही सुमर कर युद्ध भी ।
संशय नहीं, मुझमें मिले, मन बुद्धि मझमें धर सभी ॥

7

अभ्यास-बल से युक्त योगी चित्त अपना साध के ।
उत्तम पुरुष हो प्राप्त होता है उसे आराध के ॥

8

- सर्वज्ञ शास्ता सूक्ष्मतम आदित्य-सम तम से परे ।
जो नित अचिन्त्य अनादि सर्वाधार का चिन्तन करे ॥ 9
- कर योग-बल से प्राण भृकुटि-मध्य अन्तिम काल में ।
निश्चल हुआ वह भक्त मिलता दिव्य पुरुष विशाल में ॥ 10
- अक्षर कहें वेदज्ञ, जिसमें राग तज यति जन जमें ।
हों ब्रह्मचारी जिस लिये, वह पद सुनो संक्षेप में ॥ 11
- सब इन्द्रियों को साधकर निश्चल हृदय में मन धरे ।
फिर प्राण मस्तक में जमाकर धारणा योगी करे ॥ 12
- मेरा लगाता ध्यान कहता ॐ अक्षर ब्रह्म ही ।
तन त्याग जाता जीव जो पाता परम गति है वही ॥ 13
- भजता मुझे जो जन सदैव अनन्य मन से प्रीति से ।
नित युक्त योगी वह मुझे पाता सरल-सी रीति से ॥ 14
- पाए हुए हैं सिद्धि-उत्तम जो महात्मा जन सभी ।
पाकर मुझे दुख-धाम नश्वर-जन्म नहीं पाते कभी ॥ 15
- विधिलोक तक जाकर पुनः जन जन्म पाते हैं यही ।
पर पा गए अर्जुन! मुझे वे जन्म फिर पाते नहीं ॥ 16
- दिन-रात ब्रह्मा की, सहस्रों युग बडी जो जानते ।
वे ही पुरुष दिन-रैन की गति ठीक हैं पहिचानते ॥ 17
- जब हो दिवस अव्यक्त से सब व्यक्त होते हैं तभी ।
फिर रात्रि होते ही उसी अव्यक्त में लय हों सभी ॥ 18

- होता विवश सब भूत-गण उत्पन्न बारम्बार है ।
लय रात्रि में होता दिवस में जन्म लेता धार है ॥ 19
- इससे परे फिर और ही अव्यक्त नित्य-पदार्थ हैं ।
सब जीव विनशे भी नहीं वह नष्ट होता पार्थ है ॥ 20
- कहते परम गति हैं जिसे अव्यक्त अक्षर नाम है ।
पाकर जिसे लौटे न फिर मेरा वहीं पर धाम है ॥ 21
- सब जीव जिसमें हैं सकल संसार जिसमें व्याप्त है ।
वह पर-पुरुष होता अनन्य सुभक्ति से ही प्राप्त है ॥ 22
- वह काल सुन, तन त्याग जिसमें लौटते योगी नहीं ।
वह भी कहूँगा काल जब मर लौट कर आते यहीं ॥ 23
- दिन, अग्नि, ज्वाला, शुक्लपक्ष, षट् उत्तरायण मास में ।
तन त्याग जाते ब्रह्मवादी, ब्रह्म ही के पास में ॥ 24
- निशि, धूम्र में मर कृष्णपक्ष, षट् दक्षिणायन मास में ।
नर चन्द्रलोक विशाल में बस फिर फँसे भव-त्रास में ॥ 25
- ये शुक्ल कृष्ण सदैव दो गति विश्व की ज्ञानी कहें ।
दे मुक्ति पहली, दूसरी से लौट फिर जग में रहें ॥ 26
- ये मार्ग दोनो जान, योगी मोह में पडता नहीं ।
इस हेतु अर्जुन! योग-युत सब काल में हो सब कहीं ॥ 27
- जो कुछ कहा है पुण्यफल, मख वेद से तप दान से ।
सब छोड आदिस्थान ले, योगी पुरुष इस ज्ञान से ॥ 28

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृष्णार्जुन संवादे अक्षरब्रह्म योगोनाम अष्टमोऽध्यायः ॥

नवां अध्याय राजविद्या राजगुह्य योग

- श्री भगवान ने कहा
अब दोषदर्शी तू नहीं यो, गुप्त, सह-विज्ञान के ।
वह ज्ञान कहता हूँ, अशुभ से मुक्त हो जो जानके ॥ 1
- यह राजविद्या परम-गुप्त, पवित्र उत्तम ज्ञान है ।
प्रत्यक्ष फलप्रद, धर्म युत, अव्यय, सरल, सुख-खान है ॥ 2
- श्रद्धा न जिनको पार्थ है इस धर्म के शुभ सार में ।
मुझको न पाकर लौट आते मृत्युमय संसार में ॥ 3
- अव्यक्त अपने रूप से जग व्याप्त मैं करता सभी ।
मुझमें सभी प्राणी समझ पर मैं नहीं उनमें कभी ॥ 4
- मुझमें नहीं है भूत देखो योग-शक्ति-प्रभाव है ।
उत्पन्न करता पालता उनसे न किन्तु लगाव है ॥ 5
- सब ओर रहती वायु है आकाश में जिस भाँति से ।
मुझ में सदा ही है समझ सब भूतगण इस भाँति से ॥ 6
- कल्पान्त में मेरी प्रकृति में जीव लय होते सभी ।
जब कल्प का आरम्भ हो, मैं फिर उन्हे रचता सभी ॥ 7
- अपनी प्रकृति आधीन कर, इस भूतगण को मैं सदा ।
उत्पन्न बारम्बार करता, जो प्रकृतिवश सर्वदा ॥ 8
- बँधता नहीं हूँ पार्थ ! मैं इस कर्म-बन्धन में कभी ।

- रहकर उदासी सा सदा आसक्ति तज करता सभी ॥ 9
- अधिकार से मेरे प्रकृति रचती चराचर विश्व है ।
इस हेतु फिरकी की तरह फिरता बराबर विश्व है ॥ 10
- मैं प्राणियों का ईश हूँ, इस भाव को नहीं जानके ।
करते अवज्ञा जड, मुझे नर देहधारी मान के ॥ 11
- चित्त भ्रष्ट, आशा ज्ञान कर्म निरर्थ सारे ही किये ।
वे आसुरी अति राक्षसीय स्वभाव मोहात्मक लिये ॥ 12
- दैवी प्रकृति के आसरे बुध-जन भजन मेरा करें ।
भूतादि अव्यय जान पार्थ! अनन्य मन से मन धरें ॥ 13
- नित यत्न से कीर्तन करें दृढ व्रत सदा धरते हुए ।
करते भजन हैं भक्ति से मम चन्दाना करते हुए ॥ 14
- कुछ भेद और अभेद से कुछ ज्ञान-यज्ञ विधान से ।
पूजन करें मेरा कहीं कुछ सर्वतोमुख ध्यान से ॥ 15
- मैं यज्ञ श्रौतस्मार्त हूँ एवं स्वधा आधार हूँ ।
घृत और औषधि, अग्नि, आहुति, मन्त्र का मैं सार हूँ ॥ 16
- जग का पिता माता पितामह विश्व-पोषण-हार हूँ ।
ऋक् साम यजु श्रुति जानने के योग्य शुचि ओं कर हूँ ॥ 17
- पोषक प्रलय उत्पत्ति गतिआधार मित्र निधान हूँ ।
साक्षी शरण प्रभु बीज अव्यय मैं निवासस्थान हूँ ॥ 18
- मैं ताप देता, रोकता जल, वृष्टि मैं करता कभी ।

मैं ही अमृत भी मृत्यु भी मैं सत् असत् अर्जुन सभी ॥ 19

जो सोमपा त्रैविज्ञ जन, निष्पाप अपने को किये ।
कर यज्ञ मुझ को पूजते हैं स्वर्ग इच्छा को लिये ॥
वे प्राप्त करके पुण्य लोक सुरेन्द्र का, सुरवर्ग में ।
फिर दिव्य देवों के अनोखे भोग भोगें स्वर्ग में ॥ 20

वे भोग कर सुख भोग को, उस स्वर्गलोक विशाल में ।
फिर पुण्य बीते आ फँसे इस लोक के दुख-जाल में ॥
यों तीन वेदों में कहे जो कर्म-फल में लीन हैं ।
वे कामना-प्रियजन सदा आवागमन-आधीन हैं ॥ 21

जो जन मुझे भजते सदैव अनन्य-भावापन्न हो ।
उनका स्वयं मैं ही चलाता योग-क्षेम प्रसन्न हो ॥ 22

जो अन्य देवों को भजें नर नित्य श्रद्धा-लीन हों ।
वे भी मुझे ही पूजते हैं पार्थ!पर विधि-हीन हो ॥ 23

सब यज्ञ-भोक्ता विश्व-स्वामी पार्थ मैं ही हूँ सभी ।
पर वे न मुझको जानते हैं तत्त्व से गिरते तभी ॥ 24

सुरभक्त सुर को पितृ को पाते पितर-अनुरक्त हैं ।
जो भूत पूजें भूत को, पाते मुझे मम भक्त हैं ॥ 25

अर्पण करे जो फूल फल जल पत्र मुझको भक्ति से ।
लेता प्रयत्न-चित्त भक्त की वह भेंट मैं अनुरक्ति से ॥ 26

कौन्तेय! जो कुछ भी करो तप यज्ञ आहुति दान भी ।

नित खानपानादिक समर्पण तुम करो मेरे सभी ॥ 27

हे पार्थ! यों शुभ-अशुभ-फल-प्रद कर्म-बन्धन-मुक्त हो ।
मुझमें मिलेगा मुक्त हो, संन्यास योग नियुक्त हो ॥ 18

द्वेषी हितैषी है न कोई, विश्व मुझमें एकसा ।
पर भक्त मुझमें बस रहा, मैं भक्त के मन में बसा ॥ 29

यदि दुष्ट भी भजता अनन्य सुभक्ति को मन में लिये ।
है ठीक निश्चयवान उसको साधु कहना चाहिये ॥ 30

वह धर्म-युत हो शीघ्र शाश्वत् शान्ति पाता है यहीं ।
यह सत्य समझो भक्त मेरा नष्ट होता है नहीं ॥ 31

पाते परम-पद पार्थ! पाकर आसरा मेरा सभी ।
जो अड रहे हैं पाप गति में, वैश्य वनिता शूद्र भी ॥ 32

फिर राज-ऋषि पुण्यात्म ब्राह्मण भक्त की क्या बात है ।
मेरा भजन कर तू दुखद नश्वर जगत् में तात है ॥ 33

मुझमें लगा मन भक्त बन, कर यजन पूजन वन्दना ।
मुझमें मिलेगा मत्परायण युक्त आत्मा को बना ॥ 34

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृष्णार्जुन संवादे राजविविद्या राजगुह्य योगोनाम नवमोऽध्यायः ॥

दसवां अध्याय विभूति योग

श्री भगवान ने कहा

मेरे परम शुभ सुन महाबाहो! वचन अब और भी ।
तू प्रिय मुझसे, तझसे कहूँगा बात हित की मैं सभी ॥ 1

उत्पत्ति देव महर्षिगण मेरी न कोई जानते ।
सब भाँति इनका आदि हूँ मैं, यों न ये पहिचानते ॥ 2

जो जानता मुझ को महेश्वर अज अनादि सदैव ही ।
ज्ञानी मनुष्यों में सदा सब पाप से छुटता वही ॥ 3

नित निश्चयात्मक बुद्धि ज्ञान अमूढता सुख दुःख दम ।
उत्पत्ति लय एवं क्षमा, भय अभय सत्य सदैव शम ॥ 4

समता अहिंसा तुष्टि तप एवं अयश यश दान भी ।
उत्पन्न मुझसे प्राणियों के भाव होते हैं सभी ॥ 5

हे पार्थ सप्त महर्षिजन एवं प्रथम मनुचार भी ।
मम भाव-मानस से हुए, उत्पन्न उनसे जन सभी ॥ 6

जो जानता मेरी विभूति, व योग-शक्ति यथार्थ है ।
संशय नहीं दृढ-योग वह नर प्राप्त करता पार्थ है ॥ 7

मैं जन्मदाता हूँ सभी मुझसे प्रवर्तित तात हैं ।
यह जान ज्ञानी भक्त भजते भाव से दिन रात हैं ॥ 8

मुझमें लगा कर प्राण मन, करते हुए मेरी कथा ।

- करते परस्पर बोध, रमते तुष्ट रहते सर्वथा ॥ 9
- इस भाँति होकर युक्त जो नर नित्य भजते प्रीति से ।
मति-योग ऐसा दूँ मुझे वे पास कें जिस रीति से ॥ 10
- उनके हृदय में बैठ पार्थ! कृपार्थ अपने ज्ञान का ।
दीपक जलाकर नाश करता तम सभी अज्ञान का । 11
- अर्जुन ने कहा
तुम परम-ब्रह्म पवित्र एवं परमधाम अनूप हो ।
हो आदिदेव अजन्म अविनाशी अनन्त स्वरूप हो ॥ 12
- नारद महा मुनि असित देवल व्यास ऋषि कहते यही ।
मुझ से स्वयं भी आप हे जगदीश! कहते हो वही ॥ 13
- केशव! कथन सारे तुम्हारे सत्य ही मैं मानता ।
हे हरि! तुम्हारी व्यक्ति सुर दानव न कोई जानता ॥ 14
- हे भूतभावन भूतईश्वर देवदेव जगत्पते ।
तुम आप पुरुषोत्तम स्वयं ही आपको पहिचानते ॥ 15
- जिन-जिन महान विभूतियों से व्याप्त हो संसार में ।
वे दिव्य आत्म-विभूतियाँ बतलाइये विस्तार में ॥ 16
- चिन्तन सदा करता हुआ कैसे तुम्हे पहिचान लूँ ।
किन-किन पदार्थों में करूँ चिन्तन तुम्हारा जान लूँ ॥ 17
- भगवन्! कहो निज योग और विभूतियाँ विस्तार से ।
भरता नहीं मन आपकी वाणी सुधामय धार से ॥ 18

- श्री भगवान ने कहा
 कौन्तेय! दिव्य विभूतियाँ मेरी अनन्त अशेष हैं ।
 अब मैं बताऊँगा तुझे जो जो विभूति विशेष है ॥ 19
- मैं सर्व जीवों के हृदय में अन्तरात्मा पार्थ! हूँ ।
 सब प्राणियों का आदि एवं मध्य अन्त यथार्थ हूँ ॥ 20
- आदित्यगण में विष्णु हूँ, सब ज्योति बीच दिनेश हूँ ।
 नक्षत्र में राकेश, मरुतों में मरीचि विशेष हूँ ॥ 21
- मैं साम वेदों में तथा सुरवृन्द बीच सुरेन्द्र हूँ ।
 मैं शक्ति चेतन जीव में, मन इन्द्रियों का केन्द्र हूँ ॥ 22
- शिव सकल रुद्रों बीच राक्षस यक्ष बीच कुबेर हूँ ।
 मैं अग्नि वसुओं में, पहाड़ों में पहाड सुमेर हूँ ॥ 23
- मुझको बृहस्पति पार्थ! मुख्य पुरोहितों में जान तू ।
 सेनानियों में स्कन्द, सागर सब सरो में मान तू ॥ 24
- भृगु श्रेष्ठ ऋषियों में, वचन में मैं सदा ॐकार हूँ ।
 सब स्थावरों में गिरि हिमालय, यज्ञ में जप-सार हूँ ॥ 25
- मुनि कपिल सिद्धों बीच, नारद देव-ऋषियों में कहा ।
 गन्धर्वगण में चित्ररथ, तरु-वर्ग में पीपल महा ॥ 26
- उच्चैः श्रवा सारे हयों में, अमृत-जन्य अनूप हूँ ।
 मैं हाथियों में श्रेष्ठ ऐरावत, नरों में भूप हूँ ॥ 27
- सुरधेनु गौओं में, भुजंगों बीच वासुकि सर्प हूँ ।

- मैं वज्र शस्त्रों में, प्रजा उत्पत्ति-कर कन्दर्प हूँ ॥ 28
- मैं पितर गण में अर्यमा हूँ, नाग-गण में शेष हूँ ।
यम शासकों में, जलचरों में वरुण रूप विशेष हूँ ॥ 29
- प्रह्लाद दैत्यों बीच, संख्या-सूचकों में काल हूँ ।
मैं पक्षियों में गरुड, पशुओं में मृगेन्द्र विशाल हूँ ॥ 30
- गंगा नदों में, शस्त्र-धारी वर्ग में मैं राम हूँ ।
मैं पवन वेगों बीच, मीनों में मकर अभिराम हूँ ॥ 31
- मैं आदि हूँ मध्यान्त हूँ हे पार्थ! सारे सर्ग का ।
विद्यागणों में ब्रह्मविद्या, वाद वादी-वर्ग का ॥ 32
- सारे समासों बीच द्रुन्दु, अकार वर्णों में कहा ।
मैं काल अक्षय और अर्जुन विश्वमुख धाता महा ॥ 33
- मैं सर्वहर्ता मृत्यु, सबका मूल जो होंगे अभी ।
तिय वर्ग में मेधा क्षमा धृति कीर्ति सुधि श्री वाक् भी ॥ 34
- हूँ साम में मैं बृहत्साम, बसन्त ऋतुओं में कहा ।
मंगसिर महीनों बीच, गायत्री सुखन्दों में महा ॥ 35
- तेजस्वियों का तेज हूँ मैं और ढलियों में जुआ ।
जय और निश्चय, सत्त्व सारे सत्वशीलों का हुआ ॥ 36
- मैं वृष्णियों में वासुदेव व पाण्डवों में पार्थ हूँ ।
मैं मुनिजनो में व्यास, कवियों बीच शुक्र यथार्थ हूँ ॥ 37
- मैं शासकों का दण्ड, विजयी की सुनीति प्रधान हूँ ।

हूँ मौन गुह्यों में सदा, मैं ज्ञानियों का ज्ञानहूँ ॥ 38

इस भाँति प्राणीमात्र का जो बीज है मैं हूँ सभी ।
मेरे बिना अर्जुन! चराचर है नहीं कोई कभी ॥ 39

हे पार्थ! दिव्य विभूतियाँ मेरी अनन्त अपार हैं ।
कुछ कह दिये दिग्दर्शनार्थ विभूति के विस्तार हैं ॥ 40

जो जो जगत में वस्तु, शक्ति विभूति श्रीसम्पन्न है ।
वे जान मेरे तेज के ही अंश से उत्पन्न हैं ॥ 41

विस्तार से क्या काम तुमको जान लो यह सार से ।
इस एक मेरे अंश से व्यापा हुआ संसार है ॥ 42

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृष्णार्जुन संवादे विभूति योगोनाम दशमोऽध्यायः ॥

ग्यारहवां अध्याय विश्वरूप दर्शन योग

अर्जुन ने कहा

उपदेश जो अति गुप्त जो तुमने कहा करके दया ।

अध्यात्म विषयक ज्ञान से सब मोह मेरा मिट गया ॥ 1

विस्तार से सब सुन लिया उत्पत्ति लय का तत्त्व है ।

मैंने सुना सब आपका अक्षय अनन्त महत्त्व है ॥ 2

हैं आप वैसे आपने जैसा कहा है हे प्रभो ।

मैं चाहता हूँ देखना ऐश्वर्यमय उस रूप को ॥ 3

समझें प्रभो यदि आप, मैं वह देख सकता हूँ सभी ।

तो वह मुझे योगेश ! अव्यय रूप दिखलादो अभी ॥ 4

श्री भगवान ने कहा

हे पार्थ! देखो दिव्य अनुपम विविध वर्णाकार के ।

शत-शत सहस्रों रूप मेरे भिन्न-भिन्न प्रकार के । 5

सब देख भारत! रुद्र वसु अश्विनि मरुत आदित्य भी ।

आश्चर्य देख अनेक अब पहले न देखे जो कभी ॥ 6

इस देह में एकत्र सारा जग चराचर देखले ।

जो और चाहे देखना इसमें बराबर देखते ॥ 7

मुझको न अपनी आँख से तुम देख पाओगे कभी ।

मैं दिव्य देता दृष्टि, देखो योग का वैभव सभी ॥ 8

संजय ने कहा

जब पार्थ से श्री कृष्ण ने इस भाँति हे राजन कहा ।
तब ही दिया ऐश्वर्य-युक्त स्वरूप का दर्शन महा ॥

9

मुख नयन थे उसमें अनेकों ही अनोखा रूप था ।
पहिने अनेकों दिव्य गहने शस्त्र-साज अनूप था ॥

10

सीमा-रहित अद्भुत महा वह विश्वतोमुख रूप था ।
धारण किये अति दिव्य माला वस्त्र गन्ध अनूप था ॥

11

नभ में सहस्र रवि मिल उदय हों प्रभापुञ्ज महान् हो ।
तब उस महात्मा कान्ति के कुछ कुछ प्रकाश समान हो ॥

12

उस देवदेव शरीर में देखा धनंजय ने तभी ।
बांटा विविध विध से जगत् एकत्र उसमें है सभी ॥

13

रोमांच तन में हो उठा आश्चर्य से मानो जगे ।
तब यों धनंजय सिर झुका, कर जोड कर कहने लगे ॥

14

अर्जुन ने कहा

भगवन् तुम्हारी देह में मैं देखता सुर-गण सभी ।
मैं देखता हूँ देव! इसमें प्राणियों का संघ भी ॥
शुभ कमल आसन पर इसी में ब्रह्मदेव विराजते ।
इसमें महेश्वर और ऋषीगण दिव्य पन्नग साजते ॥

15

बहु बाहु इसमें हैं अनेकों ही उदरमय रूप है ।
मुख और आँखें हैं अनेकों हरि-स्वरूप अनूप है ॥
दिखता न विश्वेश्वर तुम्हारा आदि, मध्य न अन्त है ।

मैं देखता सब ओर छाया विश्वरूप अनन्त है ॥ 16

पहिने मुकुट मञ्जुल, गदा, शुभ चक्र धरते आप हैं ।
हो तेज-निधि सारी दिशा दैदीप्त करते आप हैं ॥
तुम दुर्निरीक्ष्य महान् अपरम्पार हे भगवान हो ।
सब ओर दिखते दीप्त अग्नि दिनेश सम द्युतिवान हो ॥ 17

तुम जानने के योग्य अक्षरब्रह्म अपरम्पार हो ।
जगदीश! सारे विश्व मंडल के तुम्हीं आधार हो ॥
अव्यय सनातन धर्म के रक्षक सदैव महान् हो ।
मेरी समझ से तुम सनातन पुरुष हे भगवान् हो ॥ 18

नहिं आदि मध्य न अन्त और अनन्त बल-भंडार है ।
शशि-सूर्य रूपा नेत्र और अपार भुज विस्तार है ॥
प्रज्वलित अग्नि और प्रचण्ड मुख मैं देखता मैं धर रहे ।
संसार सारा तप्त अपने तेज से हरि कर रहे ॥ 19

नभ भूमि अन्तर सब दिशा इस रूप से तुम व्यापते ।
यह उग्र अद्भुत रूप लखि त्रैलोक्य थर-थर काँपते ॥ 20

ये आप ही मैं देव-वृन्द प्रवेश करते जा रहे ।
डरते हुए कर जोड जय-जय देव शब्द सुना रहे ॥
सब सिद्ध संघ महर्षिगण भी स्वस्ति कहते आ रहे ।
पठ कर विविध विध स्तोत्र स्वामिन् आपके गुण गा रहे ॥ 21

सब रुद्रगण आदित्य वसु हैं साध्यगण सारे खडे ।
सब पितर विश्वेदेव आश्विनि और सिद्ध बडे-बडे ॥

गन्धर्वगण राक्षस मरुत समुदाय एवं यक्ष भी ।
मन में चकित होकर हरे ! वे देखते तुमको सभी ॥ 22

बहु नेत्र मुखवाला महाबाहो ! स्वरूप अपार है ।
हाथों तथा पैरों व जंघा का बड़ा विस्तार है ॥
बहु उदर इसमें और बहु विकराल डाढ़े हैं महा ।
भयभीत इसको देख सब हैं भय मुझे भी हो रहा ॥ 23

यह गगनचुंबी जगमगाता हरि! अनेकों रंग का ।
आँखें बड़ी बलती, खुला मुख भी अनोखे ढंग का ॥
यह देख ऐसा रूप मैं मन में हरे ! घबरा रहा ।
नहिं धैर्य धर पाता, न भगवन ! शान्ति भी मैं पा रहा ॥ 24

डाढ़ें भयंकर देख पडता मुख महाविकराल है ।
मानो धधकती यह प्रलय-पावक प्रचण्ड विशाल है ॥
सुख है न ऐसे देख मुख भूला दिशायें भी सभी ।
देवेश ! जग-आधार ! हे भगवन ! करो करुणा अभी ॥ 25

धृतराष्ट्र-सुत सब साथ उनके ये नृपति-समुदाय भी ।
श्री भीष्म द्रोणाचार्य कर्ण प्रधान अपने भट सभी ॥ 26

विकराल डाढ़ों युत भयानक आपके मुख में हरे ।
अतिवेग से सब दौडते जाते धडाधड हैं भरे ॥
ये दिख रहे कुछ दाँत में लटके हुए रण-शूर हैं ।
इस डाढ़ मे पिस कर अभी जिनके हुए शिर चूर हैं ॥ 27

जिस भाँति बहु सरिता-प्रभाव समुद्र प्रति जाते बहे ।

ऐसे तुम्हारे ज्वाल मुख में वेग से नर जा रहे ॥ 28

जिस भाँति जलती ज्वाल में जाते पतंगे वेग से ।
यों मृत्यु हित ये नर, मुखों में आपके जाते धसे ॥ 29

सब ओर से इस ज्वालमय मुख में नरों को धर रहे ।
देवेश ! रसना चाटते भक्षण सभी का कर रहे ॥
विष्णो! प्रभाएँ आपकी अति उग्र जग में छा रहीं ।
निज तेज से संसार सारा ही सुरेश ! तपा रहीं ॥ 30

तम उग्र अद्भुत रूपधारी कौन हो बतलाइये ।
हे देवदेव ! नमामि देव ! प्रसन्न अब हो जाइये ॥
तुम कौन आदि स्वरूप हो, यह जानना मैं चाहता ।
कुछ भी न मुझको आपकी इस दिव्य करनी का पता ॥ 31

श्री भगवान ने कहा
मैं काल हूँ सब लोक नाशक उग्र अपने को किये ।
आया यहाँ संसार का संहार करने के लिये ॥
तू हो न हो तो भी धनंजय! देख तेरे बिन लडे ।
ये नष्ट होंगे वीरवर योधा बडे जो सब खडे ॥ 32

अथएव उठ रिपुदल-विजय कर, प्राप्त कर सम्मान को ।
फिर भोग इस धन-धान्य से परिपूर्ण राज्य महान् को ।
हे पार्थ ! मैं ने वीर ये सब मार पहिले ही दिये ।
आगे बढो तुम युद्ध में बस नाम करने के लिये ॥ 33

ये भीष्म द्रोण तथा जयद्रथ कर्ण योद्धा और भी ।

जो वीरवर हैं मार पहिले ही दिये मैंने सभी ॥
अब मार इन मारे हुआँ को, वीरवर ! व्याकुल न हो ।
कर युद्ध रण में शत्रुओं को पार्थ जीतेगा अहो ॥ 34

संजय ने कहा
तब मुकुटधारी पार्थ सुन केशव-वचन इस रीति से ।
अपने उभय कर जोड कर कँपते हुए भयभीत से ॥
नमते हुए गद्गद् गले से, और भी डरते हुए ।
श्री कृष्ण से बोले वचन यों वन्दना करते हुए ॥ 35

अर्जुन ने कहा
होता जगत अनुरक्त हर्षित आपका कीर्तन किये ।
सब भागते राक्षस दिशाओं में तुम्हारा भय लिये ॥
नमता तुम्हें सब सिद्ध-संघ सुरेश ! बारम्बार है ।
हे हृषीकेश समस्त ये उनका उचित व्यवहार है ॥ 36

तुम ब्रह्म के भी आदिकारण और उनसे श्रेष्ठ हो ।
फिर हे महात्मन! आपकी यों वन्दना कैसे न हो ॥
संसार के आधार हो, हे देवदेव! अनन्त हो ।
तुम सत्, असत् इनसे परे अक्षर तुम्ही भगवन्त हो ॥ 37

भगवन्! पुरातन पुरुष हो तुम विश्व के आधार हो ।
हो आदिदेव तथैव उत्तम धाम अपरम्पार हो ॥
ज्ञाता तुम्हीं हो जानने के योग्य भी भगवन्त हो ।
संसार में व्यापे हुए हो देवदेव! अनन्त हो ॥ 38

तुम वायु यम पावक वरुण एवं तुम्ही राकेश हो ।

ब्रह्म तथा उनके पिता भी आप ही अखिलेश हो ॥
हे देवदेव ! प्रणाम देव ! प्रणाम सहस्रों बार हो ।
फिर फिर प्रणाम ! प्रणाम ! नाथ, प्रणाम! बारम्बार हो ॥ 39

सानन्द सन्मुख और पीछे से प्रणाम सुरेश ! हो ।
हरि बार-बार प्रणाम चारों ओर से सर्वेश ! हो ॥
है वीर्य्य शौर्य्य अनन्त, बलधारी अतुल बलवन्त हो ।
व्यापे हुए सब में इसी से 'सर्व ' हे भगवन्त! हो ॥ 40

तुमको समझ अपना सखा जाने बिना महिमा महा ।
यादव ! सखा ! हे कृष्ण! प्यार प्रमोद या हठ से कहा ॥ 41

अच्युत ! हँसाने के लिये आहार और विहार में ।
सोते अकेले बैठते सब में किसी व्यवहार में ॥
सबकी क्षमा मैं माँगता जो कुछ हुआ अपराध हो ।
संसार में तुम अतुल अपरम्पार और अगाध हो ॥ 42

सारे चराचर के पिता हैं आपजग आधार हैं ।
हैं आप गुरुओं के गुरु अतिपूज्य अपरम्पार हैं ॥
त्रैलोक्य में तुमसा प्रभो ! कोई कहीं भी है नहीं ।
अनुपम अतुल्य प्रभाव बढकर कौन फिर होगा कहीं ॥ 43

इस हेतु वन्दन-योग्य ईश! शरीर चरणों में किये ।
मैं आपको करता प्रणाम प्रसन्न करने के लिये ॥
ज्यों तात सुत के, प्रिय प्रिया के, मित्र सहचर अर्थ है ।
अपराध मेरा आप त्यों ही सहन हेतु समर्थ है ॥ 44

यह रूप भगवन! देखकर, पहले न जो देखा कभी ।
हर्षित हुआ मैं किन्तु भय से है विकल भी मन अभी ॥
देवेश! विश्वाधार! देव ! प्रसन्न अब हो जाइये ।
हे नाथ! पहला रूप ही अपना मुझे दिखलाइए ॥

45

मैं चाहता हूँ देखना तुमको मुकुट धारण किये ।
हे सहस्रबाहो! शुभ करो मेें चक्र और गधा लिये ॥
हे विश्वमूर्ते ! फिर मुझे वह सौम्य दर्शन दीजिये ।
वह ही चतुर्भुज रूप हे देवेश ! अपना कीजिये ॥

46

श्री भगवान ने कहा
हे पार्थ! परम प्रसन्न हो तुझ पर अनुग्रह-भाव से ।
मैंने दिखाया विश्वरूप महान योग-प्रभाव से ॥
यह परम तेजोमय विराट् अनन्त आदि अनूप है ।
तेरे सिवा देखा किसी ने भी नहीं यह रूप है ॥

47

हे कुरुप्रवीर! न वेद से, स्वाध्याय, यज्ञ या दान से ।
दिखता नहीं मैं उग्र तप या क्रिया कर्म-विधान से ॥
मेरा विराट् स्वरूप इस नर-लोक मे अर्जुन! कहीं ।
अतिरिक्त तेरे और कोई देख सकता है नहीं ॥

48

यह घोर रूप निहार कर मत मूढ और अधीर हो ।
फिर रूप पहला देख, भय तज तुष्ट मनमें वीर हो ॥

49

संजय ने कहा
यों कह, दिखाया रूप अपना सौम्य तन फिर धर लिया ।
भगवन् ने भयभीत व्याकुल पार्थ को धीरज दिया ॥

50

अर्जुन ने कहा

यह सौम्य नर-तन देख भगवन् ! मन ठिकाने आ गया ।

जिस भाँति पहले था वही अपनी अवस्था पा गया ॥ 51

श्री भगवान ने कहा

हे पार्थ! दुर्लभ रूप यह जिसके अभी दर्शन किये ।

सुर भी तरसते हैं इसी की लालसा मन में लिये ॥ 52

दिखता न मैं तप, दान अथवा यज्ञ, वेदों से कहीं ।

देखा जिसे तू ने उसे नर देख पाते हैं नहीं ॥ 53

हे पार्थ ! एक अनन्य मेरी भक्ति से सम्भव सभी ।

यह ज्ञान, दर्शन, और मुझमें तत्त्व ज्ञान प्रवेश भी ॥ 54

मेरे लिये जो कर्म-तत्पर, नित्य मत्पर, भक्त है ।

पाता मुझे वह जो सभी से वैर हीन विरक्त है ॥ 55

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृष्णार्जुन संवादे विश्व रूपदर्शन योगोनाम एकादशोऽध्यायः ॥

बारहवां अध्याय भक्ति योग

अर्जुन ने कहा
अव्यक्त को भजते कि जो धरते तुम्हारा ध्यान है ।
इन योगियों में योगवेत्ता कौन श्रेष्ठ महान है । 1

श्री भगवान ने कहा
कहता उन्हे मैं श्रेष्ठ मुझमें चित्त जो धरते सदा ।
जो युक्त हो श्रद्धा-सहित मेरा भजन करते सदा ॥ 2

अव्यक्त, अक्षर, अनिर्देश्य, अचिन्त्य नित्य स्वरूप को ।
भजते अचल, कूटस्थ, उत्तम सर्वव्यापी रूप को । 3

सब इन्द्रियाँ साथे सदा समबुद्धि ही धरते हुए ।
पाते मुझे वे पार्थ प्राणीमात्र हित करते हुए ॥ 4

अव्यक्त में आसक्त जो होता उन्हे अति क्लेश है ।
पाता पुरुष यह गति, सहन करके विपत्ति विशेष है ॥ 5

हो मत्परायण कर्म सब अर्पण मुझे करते हुए ।
भजते सदैव अनन्य मन से ध्यान जो धरते हुए ॥ 6

मुझमें लगाते चित्त उनका शीघ्र कर उद्धार मैं ।
इस मृत्युमय संसार से बेडा लगाता पार मैं ॥ 7

मुझमें लगाले मन, मुझी में बुद्धि को रख सब कहीं ।
मुझमें मिलेगा फिर तभी इसमें कभी संशय नहीं ॥ 8

- मुझमें धनंजय! जो न ठीक प्रकार मन पाओ बसा ।
अभ्यास-योग प्रयत्न से मेरी लगालो लालसा ॥ 9
- अभ्यास भी होता नहीं तो कर्म कर मेरे लिये ।
सब सिद्धि होगी कर्म भी मेरे लिये अर्जुन! किये ॥ 10
- यह भी न हो तब आसरा मेरा लिये कर योग ही ।
कर चित्त-संयम कर्म-फल के त्याग सारे भोग भी ॥ 11
- अभ्यास-पथ से ज्ञान उत्तम, ज्ञान से गुरु ध्यान है ।
गुरु ध्यान से फल-त्याग, करता त्याग शान्ति प्रदान है ॥ 12
- बिन द्वेष, सारे प्राणियों का मित्र, करुणावान् हो ।
सम दुःख सुख में मद न ममता, क्षमाशील महान् हो ॥ 13
- जो तुष्ट नित मन बुद्धि से मुझमें हुआ आसक्त है ।
दृढ निश्चयी है संयमी प्यारा मुझे वह भक्त है ॥ 14
- पाते न जिसमे क्लेश जन, उनसे न पाता आप ही ।
भय क्रोध हर्ष विषाद बिन प्यारा मुझे है जन वही ॥ 15
- जो शुचि उदासी दक्ष है जिसको न दुख बाधा रही ।
इच्छा-रहित, आरम्भ-त्यागी भक्त प्रिय मुझको वही ॥ 16
- करता न द्वेष न हर्ष जो बिन शोक है बिन कामना ।
त्यागे शुभाशुभ फल वही है भक्त प्रिय मुझको घना ॥ 17
- सम शत्रु मित्रों से सदा अपमान मान समान है ।
शीतोष्ण सुख दुख सम जिसे आसक्ति बिन मतिमान है ॥ 18

निन्दा प्रशंसा सम जिसे, मौनी सदा सन्तुष्ट ही ।
अनिकेत निश्चल बुद्धिमय प्रिय भक्त है मुझ को वही ॥ 19

जो मत्परायण इस अमृत-मय धर्म में अनुरक्त है ।
वे नित्य श्रद्धावान जन मेरे परम प्रिय भक्त हैं ॥ 20

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृष्णार्जुन संवादे भक्ति योगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥

तेरहवां अध्याय क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग

श्री भगवान ने कहा

कौन्तेय! यह तन क्षेत्र है ज्ञानी बताते हैं यही ।
जो जानता इस क्षेत्र को क्षेत्रज्ञ कहलाता वही ॥

1

हे पार्थ ! क्षेत्रों में मुझे क्षेत्रज्ञ जान महान तू ।
क्षेत्रज्ञ एवं का सब ज्ञान मेरा जान तू ॥

2

वह क्षेत्र जो, जैसा, जहाँ से, जिन विकारों-युत, सभी ।
संक्षेप में सुन, जिस प्रभाव समेत वह क्षेत्रज्ञ भी ॥

3

बहु भाँति ऋषियों और छन्दों से अनेक प्रकार से ।
गाया पदों में ब्रह्मसूत्रों के सहेतु विचार से ॥

4

मन बुद्धि एवं महाभूत प्रकृति अहंकृति भाव भी ।
पाँचों विषय सब इन्द्रियों के और इन्द्रियगण सभी ॥

5

सुख दुःख इच्छा द्वेष धृति संघात एवं चेतना ।
संक्षेप में यह क्षेत्र है समुदाय जो इनका बना ॥

6

अभिमान दम्भ अभाव, आर्जव, शौच, हिंसाहीनता ।
थिरता, क्षमा, निग्रह तथा आचार्य-सेवा दीनता ॥

7

इन्द्रिय-विषय-वैराग्य एवं मद सदैव निवारना ।
जीवन, जरा, दुख, रोग, मृत्यु सदोष नित्य विचारना ॥

8

नहिं लिप्त नारी पुत्र में सब त्यागना फल वासना ।

- नित शुभ अशुभ की प्राप्ति में भी एकसा रहना बना ॥ 9
- मुझमें अनन्य विचार से व्यभिचार-विरहित भक्ति हो ।
एकांन्त का सेवन न जन समुदाय में आसक्ति हो ॥ 10
- अध्यात्म ज्ञान व तत्त्व ज्ञान विचार, यह सब ज्ञान हैं ।
विपरीत इनके और जो कुछ है सभी अज्ञान है ॥ 11
- अब वह बताता ज्ञेय जिसके ज्ञान से निस्तार है ।
नहिं जो असत् सत् परम ब्रह्म अनादि और अपार है ॥ 12
- सर्वत्र उसके पाणि पद, सिर नेत्र मुख सब ओर ही ।
सब ओर उसके कान हैं, सर्वत्र फैला है वही ॥ 13
- इन्द्रिय-गुणों का भास उसमें किन्तु इन्द्रिय-हीन है ।
हो अलग जग-पालक, निगुण होकर गुणों में लीन है ॥ 14
- भीतर व बाहर प्राणियों में दूर भी है पास भी ।
वह चर अचर अतिसूक्ष्म है जाना नहीं जाता कभी ॥ 18
- अविभक्त होकर प्राणियों में वह विभक्त सदैव है ।
वह ज्ञेय पालक और नाशक जन्मदाता देव है ॥ 16
- वह ज्योतियों की ज्योति है, तम से परे है, ज्ञान है ।
सब में बसा है, ज्ञेय है, वह ज्ञानगम्य महान् है ॥ 17
- यह क्षेत्र ज्ञान महान् ज्ञेय कहा गया संक्षेप में ।
हे पार्थ! इसको जान मेरा भक्त मुझमें आ बसे ॥ 18
- यह प्रकृति एवं पुरुष दोनो ही अनादि विचार हैं ।

पैदा प्रकृति से ही समझ गुण तीन और वि कार हैं ॥ 19

है कार्य एवं करण की उत्पत्ति कारण प्रकृति ही ।
इस जीव को कारण कहा सुख दुःख भोग निमित्त ही ॥ 20

रह कर प्रकृति में नित पुरुष करता प्रकृति-गुण भोग है ।
अच्छी बुरी सब योनियां देना यही गुण-योग है ॥ 21

द्रष्टा व अनुमन्ता सदा भर्ता प्रभोक्ता शिव महा ।
इस देह में परमात्मा उस पर-पुरुष को है कहा ॥ 22

ऐसे पुरुष एवं प्रकृति को गुण सहित जो जान ले ।
बरताव कैसा भी करे वह जन्म फिर जग में न ले ॥ 23

कुछ आप ही में आप आत्मा देखते हैं ध्यान से ।
कुछ कर्मयोगी योग से कुछ सांख्य-ज्ञानी ज्ञान से ॥ 24

सुन दूसरों से ही किया करते भजन अनजान हैं ।
तरते असंशय मृत्यु वे श्रुति में लगे मतिमान् हैं ॥ 25

जानो चराचर जीव जो पैदा हुए संसार में ।
सब क्षेत्र के क्षेत्रज्ञ के संयोग से विस्तार में ॥ 26

अविनाशि, नश्वर सर्वभूतों में रहे सम नित्य ही ।
इस भाँति ईश्वर को पुरुष जो देखता देखे वही ॥ 27

जो देखता समभाव से ईश्वर सभी में व्याप्त है ।
करता न अपनी घात है, करता परम पद प्राप्त है ॥ 28

करती प्रकृति सब कर्म, आत्मा है अकर्ता नित्य ही ।

इस भाँति से जो देखता है, देखता है जन वही ॥ 29

जब प्राणियों की भिन्नता जन एक में देखे सभी ।
विस्तार देखे एक से ही ब्रह्म हो पाता तभी ॥ 30

यह ईश अव्यय, निगुण और अनादि होने से सदा ।
करता न होता लिप्त है रह देह में भी सर्वदा ॥ 31

नम सर्वव्यापी सूक्ष्म होने से न जैसे लिप्त हो ।
सर्वत्र आत्मा देह में रह कर न वैसे लिप्त हो ॥ 32

ज्यों एक रवि सम्पूर्ण जग में तेज भरता है सदा ।
यों ही प्रकाशित क्षेत्र को क्षेत्रज्ञ करता है सदा ॥ 33

क्षेत्रज्ञ एवं क्षेत्र अन्तर ज्ञान से समझें सही ।
समझें प्रकृति से छूटना जो ब्रह्म को पाते वही ॥ 34

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृष्णार्जुन संवादे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योगोनाम त्रयो दशोऽध्यायः ॥

चौदहवां अध्याय गुणत्रय विभागयोग

- श्री भगवान ने कहा
अति श्रेष्ठ ज्ञानों में बताता ज्ञान मैं अब और भी ।
मुनि पा गये हैं सिद्धि जिसको जान कर जग में सभी ॥ 1
- इस ज्ञान का आश्रय लिये जो रूप मेरा हो रहें ।
उत्पत्ति-काल न जन्म लें, लय-काल में व्यथा सहें ॥ 2
- इस प्रकृति अपनी योनि में मैं गर्भ रखता हूँ सदा ।
उत्पन्न होते हैं उसीसे सर्व प्राणी सर्वदा ॥ 3
- सब योनियों में मूर्तियों के जो अनेकों रूप हैं ।
मैं बीज-प्रद उनका पिता हूँ प्रकृति योनि अनूप है ॥ 4
- पैदा प्रकृति से सत्त्व, रज, तम त्रिगुण का वि स्तार है ।
इस देह में ये जीव को ले बाँध, जो अविकार है ॥ 5
- अविकार सतगुण है प्रकाशक क्योंकि निर्मल आप है ।
यह बाँध लेता जीव को सुख ज्ञान से निष्पाप है ॥ 6
- जानो रजोगुण राजमय, उत्पन्न तृष्णा संग से ।
वह बाँध लेता जीव को कौन्तेय कर्म-प्रसंग से ॥ 7
- अज्ञान से उत्पन्न तम सब जीव जो मोहित करे ।
आलस्य नींद प्रमाद से यह जीव को बंधित करे ॥ 8
- सुख में सतोगुण, कर्म में देता रजोगुण संग है ।

- ढक कर तमोगुण ज्ञान को देता प्रमाद प्रसंग है ॥ 9
- रज तम दबें तब सत्त्व गुण, तम सत्त्व दबते रज बढे ।
रज सत्त्व दबते ही तमोगुण देहधारी पर चढे ॥ 10
- जब देह की सब इन्द्रियों में ज्ञान का हो चाँदना ।
तब जान लेना चाहिए तन में सतोगुण है घना ॥ 11
- तृष्णा अशान्ति प्रवृत्ति होकर मन प्रलोभन में पडे ।
आरम्भ होते कर्म के अर्जुन ! रजोगुण जब बढे ॥ 12
- कौन्तेय! मोह प्रमाद हो, जब हो न मन में चाँदना ।
उत्पन्न हो आलस्य जब होता तमोगुण है घना ॥ 13
- ईस जीव में यदि सत्त्व गुण की वृद्धि मरते काल है ।
तो प्राप्त करता इन्द्रियों का शुद्ध लोक विशाल है ॥ 14
- रज-वृद्धि में मर देह कर्मासक्त पुरुषों में धरे ।
जड योनियों में जन्मता, यदि जन तमोगुण में मरे ॥ 15
- फल पुण्य कर्मों का सदा शुभ श्रेष्ठ सात्त्विक ज्ञान है ।
फल दुख रजोगुण का, तमोगुण फल सदा अज्ञान है ॥ 16
- उत्पन्न सत से ज्ञान, रज से नित्य लोभ प्रधान है ।
है मोह और प्रमाद तमगुण से सदा अज्ञान है ॥ 17
- सात्त्विक पुरुष स्वर्गादि में, नर-लो क में राजस बस्यें ।
जो तामसी गुण में बस्यें, वे जन अधोगति में फँसे ॥ 18
- कर्ता न कोई तज त्रिगुण यह देखता द्रष्टा जभी ।

जाने गुणों से पार जब, पाता मुझे है जन तभी ॥ 19

जो देहधारी, देह-कारण पार ये गुण तीन हो ।
छुट जन्म मृत्यु जरादि दुख से वह अमृत में लीन हो ॥ 20

अर्जुन ने कहा
लक्षण कहो उनके प्रभो जन जो त्रिगुण से पार हैं ।
किस भाँति होते पार क्या उन के कहो आचार हैं ॥ 21

श्री भगवान ने कहा
पाकर प्रकाश, प्रवृत्ति मोह न पार्थ ! इनसे द्वेष है ।
यदि हों नहीं वे प्राप्त, उनकी लालसा न विशेष है ॥ 22

रहता उदासी सा गुणों से हो नहीं विचलित कहीं ।
सब त्रिगुण करते कार्य हैं यह जान जो डिगता नहीं ॥ 23

है स्वस्थ, सुख-दुख सम जिसे, सम ढेल पत्थर स्वर्ण भी ।
जो धीर, निन्दा स्तुति जिसे सम, तुल्य अप्रिय-प्रिय सभी ॥ 24

सब बन्धु वैरी हैं जिसे अपमान मान समान है ।
आरम्भ त्यागे जो सभी वह गुणातीत महान है ॥ 25

जो शुद्ध निश्चल भक्ति से भजता मुझे है नित्य ही ।
तीनों गुणों से पार होकर ब्रह्म को पाता वही ॥ 26

अव्यय अमृत मैं और मैं ही ब्रह्मरूप महान हूँ ।
मैं ही सनातन धर्म और अपार मोद निधान हूँ ॥ 27

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे

श्री कृष्णार्जुन संवादे गुणत्रय विभाग योगोनाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥

पन्द्रहवां अध्याय पुरुषोत्तम योग

श्री भगवान ने कहा

है मूल ऊपर शाख नीचे पत्र जिस के वेद हैं ।
वे वेदवित् जो जानते अश्वस्थ अव्यय भेद हैं ॥ 1

पल्लव विषय गुण से पली अधऊर्ध्व शाखा छा रही ।
नर लोक में नीचे जडे कर्मानुबन्धी जा रही ॥ 2

उसका यहाँ मिलता स्वरूप न आदि मध्याधार से ।
दृढमूल यह अश्वस्थ काट असंग शस्त्र-प्रहार से ॥ 3

फिर वह निकालो ढूँढ कर पद श्रेष्ठ ठीक प्रकार से ।
कर प्राप्त जिसको फिर न लौटे, छूटकर संसार से ॥
मैं शरण उस की हूँ पुरुष जो आदि और महान है ।
उत्पन्न जिससे सब पुरातन यह प्रवृत्ति-विधान है ॥ 4

जीता जिन्होंने संग दोष न मोह जिनमें मान है ।
मनमें सदा जिन के जगा अध्यात्म ज्ञान प्र धान है ॥
जिनमें न कोई कामना सुख दुख और न द्वन्द्व ही ।
अव्यय परमपद को सदा ज्ञानी पुरुष पाते वही ॥ 5

जिसमें न सूर्य प्रकाश चन्द्र न आग ही का काम है ।
लौटे न जन जिसमें पहुँच मेरा वही पर धाम है ॥ 6

इस लोक में मेरा सनातन अंश है यह जीव ही ।
मन के सहित छै प्रकृतिवासी खींचता इन्द्रिय वही ॥ 7

- जब जीव लेता देह अथवा त्यागता सम्बन्ध को ।
करता ग्रहण इनको सुमन से वायु जैसे गंध को ॥ 8
- रसना, त्वचा, दृग कानएवं नाक, मन-आश्रय लिये ।
यह जीव सब सेवन किया करता विषय निर्मित किये ॥ 9
- जाते हुए तन त्याग, रहते भोगते गुणयुक्त भी ।
जानें न इसको मूढ मानव, जानते ज्ञानी सभी ॥ 10
- कर यत्न योगी आपमें इसको बसा पहिचानते ।
पर यत्न करके भी न मूढ अशुद्ध-आत्मा जानते ॥ 11
- जिसमें प्रकाशित है जगत्, जो तेज दिव्य दिनेश में ।
वह तेज मेरा तेज है जो अग्नि में राकेश में ॥ 12
- क्षिति मे बसा निज तेज से मैं प्रणियों को धर रहा ।
रस रूप होकर सोम सारी पुष्ट औषधि कर रहा ॥ 13
- मैं प्राणियों में बस रहा हो रूप वैश्वानर महा ।
पाचन चतुर्विध अन्न प्राणापान-युत हो कर रहा ॥ 14
- सुधि ज्ञान और अपोह मुझसे मैं सभी में बस रहा ।
वेदान्त कर्ता वेदवेद्य सुवेदवित् मुझको कहा ॥ 15
- इस लोक में क्षर और अक्षर दो पुरुष हैं सर्वदा ।
क्षर सर्वभूतों को कहा कूटस्थ है अक्षर सदा ॥ 16
- कहते जिसे परमात्मा उत्तम पुरुष इनसे परे ।
त्रैलोक्य में रह ईश अव्यय सर्व जग पोषण करे ॥ 17

क्षर और अक्षर से परे मैं श्रेष्ठ हूँ संसार में ।
इस हेतु पुरुषोत्तम कहाया वेद लोकाचार में ॥ 18

तज मोह पुरुषोत्तम मुझे जो पार्थ! लेता जान है ।
सब भाँति वह सर्वज्ञ हो भजता मुझे मतिमान् है ॥ 19

मैंने कहा यह गुप्त से भी गुप्त ज्ञान महान् है ।
यह जान कर करता सदा जीवन सफल मतिमान् है ॥ 20

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृष्णार्जुन संवादे पुरुषोत्तम योगोनाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥

सोलहवाँ अध्याय दैवासुर सम्पद्धिभाग योग

श्री भगवान ने कहा

भय-हीनता, दम, सत्त्व की संशुद्धि, दृढता ज्ञान की ।
तन-मन सरलता, यज्ञ तप स्वाध्याय, सत्त्विक दान भी ॥ 1

मृदुता, अहिंसा, सत्य, करुणा, शान्ति, क्रोध-विहीनता ।
लज्जा, अचञ्चलता, अनिन्दा, त्याग, तृष्णाहीनता ॥ 2

धृति, तेज, पावनता, क्षमा अद्रोह मान-विहीनता ।
ये चिन्ह उनके पार्थ ! जिन को प्राप्त दैवी-सम्पदा ॥ 3

मद, मान, मिथ्याचार, क्रोध, कठोरता, अज्ञान भी ।
वे आसुरी सम्पत्ति में जन्मे हुए पाते सभी ॥ 4

दे मोक्ष दैवी, बाँधती है आसुरी सम्पत्ति ये ।
मत शोक अर्जुन ! कर हुआ तू दैव-सम्पद् को लिये ॥ 5

दो भाँति की है सृष्टि दैवी आसुरी संसार में ।
सुन आसुरी अब पार्थ! दैवी कह चु का विस्तार में ॥ 6

क्या है प्रवृत्ति निवृत्ति! जग में जानते आसुर नहीं ।
आचार, सत्य, विशुद्धता होती नहीं उनमें कहीं ॥ 7

कहते असुर झूठा जगत्, बिन ईश बिन आधार है ।
केवल परस्पर योग से बस भोग-हित संसार है ॥ 8

इस दृष्टि को धर, मूढ नर, नष्टात्म, रत अपकार में ।

- जग-नाश हित वे क्रूर-कर्मी जन्मते संसार में ॥ 9
- मद मान दम्भ-विलीन, काम अपूर का आश्रय लिये ।
वर्ते अशुचि नर मोह वश हो कर असत् आग्रह किये ॥ 10
- उनमें मरण पर्यन्त चिन्ताएँ अनन्त सदा रहें ।
वे भोग विषयों में लगे आनन्द उसही को कहें ॥ 11
- आशा कुबन्धन में बँधे, धुन क्रोध एवं काम की ।
सुख भोग हित अन्याय से इच्छा करें धन धाम की ॥ 12
- यह पा लिया अब वह मनोरथ सिद्ध कर लूँगा सभी ।
यह धन हुआ मेरा मिलेगा और भी आगे अभी ॥ 13
- यह शत्रु मैंने आज मारा, कल हनूँगा और भी ।
भोगी, सुखी, बलवान, ईश्वर, सिद्ध हूँ, मैं ही सभी ॥ 14
- श्रीमान् और कुलीन मैं हूँ कौन मुझसे और है ।
मख, दान, सुख भी मैं करूँगा, मूढता-मोहित कहें ॥ 15
- भूले अनेकों कल्पना में मोह=बन्धन बीच हैं ।
वे काम-भोगों में फँसे पडते नरक में नीच हैं । 16
- धन, मान, मद में मस्त, ऐंटू निज-प्रशंसक अज्ञ हैं ।
वे दम्भ से विधिहीन करते नाम ही को यज्ञ हैं ॥ 17
- बल, काम क्रोध, घमण्ड वश, निन्दा करें मद से तने ।
सब में व अपने में बसे मुझ देव के द्वेषी बने ॥ 18
- जो है नराधम क्रूर द्वेषी लीन पापाचार में ।

उनको गिराता नित्य आसुर योनि में संसार में ॥ 19

वे जन्म-जन्म सदैव आसुर योनि ही पाते रहें ।
मुझ को न पाकर अन्त में अति ही अधोगति को गहें ॥ 20

ये काम लालच क्रोध तीनों ही नरक के द्वार हैं ।
इस हेतु तीनों आत्म-नाशक त्याज्य सर्व प्रकार हैं ॥ 21

इन नरक द्वारों से पुरुष जो मुक्त पार्थ ! सदैव ही ।
शुभ आचरण नित हेतु करता परम गति पाता वही ॥ 22

जो शास्त्र विधि को छोड, करता कर्म मनमाने सभी ।
वह सिद्धि, सुख अथवा परमगति को नपाता है कभी ॥ 23

इस हेतु कार्य-अकार्य-निर्णय मान शास्त्र प्रमाण ही ।
करना कहा जो शास्त्र में है जानकर वह कर वही ॥ 24

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृष्णार्जुन संवादे दैवासुर सम्पद्धिभाग योगोनाम षोडशोऽध्यायः ॥

सत्रहवां अध्याय श्रद्धात्रयविभाग योग

अर्जुन ने कहा

करते यजन जो शास्त्रविधि को छोड़ श्रद्धायुक्त हो ।
हे कृष्ण ! उनकी सत्त्व, रज, तम कौनसी निष्ठा कहो ॥ 1

श्री भगवान ने कहा

श्रद्धा स्वभावज प्राणियों में पार्थ ! तीन प्रकार से ।
सुन सात्त्विकी भी रजसी भी तामसी विस्तार से ॥ 2

श्रद्धा सभी में सत्त्व सम, श्रद्धा स्वरूप मनुष्य है ।
जिस की रहे जिस भाँति श्रद्धा वह उसी-सा नित्य है ॥ 3

सात्त्विक सुरुओं का, यक्ष राक्षस का यजन राजन करें ।
नित भूत प्रेतों का यजन जन तामसी मन में धरें ॥ 4

जो घोर तप तपते पुरुष हैं शास्त्र-विधि से हीन हो ।
मद दम्भ-पूरित, कामना बल राग के आधीन हो ॥ 5

तन पंच-भूतों को, मुझे भी - देह में जो बस रहा ।
जो कष्ट देते जान उनको मूढमति आसुर महा ॥ 6

हे पार्थ! प्रिय सब को सदा आहार तीन प्रकार के ।
इस भाँति ही तप दान मख भी हैं, सुनो विस्तार से ॥ 7

देँ आयु, सात्त्विक बुद्धि, बल, सुख, प्रीति एवं स्वास्थ्य भी ।
रसमय चिरस्थिर हृद्य चिकने खाद्य सात्त्विक प्रिय सभी ॥ 8

- नमकीन, कटु, खट्टे, गराम, रूखे व दाहाक, तीक्ष्ण ही ।
दुख-शोक-रोगद खाद्य, प्रिय हैं राजसी को नित्य ही ॥ 9
- रखा हुआ कुछ काल का, रसहीन बासी या सडा ।
नर तामसी अपवित्र भोजन भोगते जूठा पडा ॥ 10
- फल आश तज, जो शास्त्र-विधिवत, मानकर कर्तव्य ही ।
अतिशान्त मन करके किया हो, यज्ञ सात्त्विक है वही ॥ 11
- हे भरतश्रेष्ठ! सदैव ही फल-वासना जिसमें बसी ।
दम्भाचरण हित जो किया वह यज्ञ जानो राजसी ॥ 12
- विधि-अन्नदान-विहीन जो, बिन दक्षिणा के हो रहा ।
बिन मन्त्र-श्रद्धा, यज्ञ जो वह तामसी जाता कहा ॥ 13
- सुर द्विज तथा गुरु प्राज्ञ पूजन ब्रह्मचर्य सदैव ही ।
शुचिता अहिंसा नम्रता तन की तपस्या है यही ॥ 14
- सच्चे वचन, हितकर, मधुर उद्वेग-विरहित नित्य ही ।
स्वाध्याय का अभ्यास भी, वाणी तपस्या है यही ॥ 15
- सौम्यत्व, मौन, प्रसाद मन का, शुद्ध भाव सदैव ही ।
करना मनोनिग्रह सदा मन की तपस्या है यही ॥ 16
- श्रद्धा सहित हो योगयुत फल वासनाएँ तज सभी ।
करते पुरुष, तप ये त्रिविध, सात्त्विक तपस्या है तभी ॥ 17
- सत्कार पूजा मान के हित दम्भ से जो हो रहा ।
वह तप अनिश्चित और नश्वर, राजसी जाता कहा ॥ 18

- जो मूढ-हठ से आप ही को कष्ट देकर हो रहा ।
अथवा किया पर-नाश-हित, तप तामसी उसको कहा । 19
- देना समझ कर अनुपकारी को दिया जो दान है ।
वह दान सत्त्विक देश काल सुपात्र का जब ध्यान है ॥ 20
- जो दान प्रत्युपकार के हित क्लेश पाकर के किया ।
है राजसी वह दान जो फल आश के हित है दिया ॥ 21
- बिन देश काल सुपात्र देखे जो दिया बिन मान से ।
अथवा दिया अवहेलना से तामसी वह दान है ॥ 22
- शुभ ॐ तत् सत् ब्रह्म का यह त्रिविध उच्चारण कहा ।
निर्मित इसीसे आदि में है, वेद ब्राह्मन मख महा ॥ 23
- इस हेतु कहकर ॐ होते नित्य मख तप दान भी ।
सब ब्रह्मनिष्ठों के सदा शास्त्रोक्त कर्म-विधान भी ॥ 24
- कल्याण-इच्छुक त्याग फल 'तत्' शब्द कहकर सर्वदा ।
तप यज्ञ दान क्रियादि करते हैं विविध विध से सदा ॥ 25
- सद् सादु भावों के लिए 'सत्' का सदैव प्रयोग है ।
हे पार्थ ! उत्तम कर्म में 'सत्' शब्द का उपयोग है ॥ 26
- 'सत्' ही कहाती दान तप में यज्ञ में दृढता सभी ।
कहते उन्हे 'सत्' ही सदा उनके लिए जो कर्म भी ॥ 27
- सब ही असत् श्रद्धा बिना जो होम तप या दान है ।
देता न वह इस लोक में या मृत्यु पर कल्याण है ॥ 28

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृष्णार्जुन संवादे श्रद्धात्रयविभाग योगोनाम सप्तदशोऽध्यायः ॥

अठारहवाँ अध्याय मोक्षसंन्यास योग

अर्जुन ने कहा

संन्यास एवं त्याग-तत्त्व, पृथक् महाबाहो! कहो ।
इच्छा मुझे है हृषीकेश ! समस्त इन का ज्ञान हो ॥ 1

श्री भगवान ने कहा

सब काम्य-कर्मन्यास ही संन्यास ज्ञानी मानते ।
सब कर्मफल के त्याग ही को त्याग विज्ञ बखानते ॥ 2

हैं दोषवत् सब कर्म कहते त्याज्य कुछ विद्वान् हैं ।
तप दान यज्ञ न त्यागिये कुछ दे रहे यह ज्ञान है ॥ 3

हे पार्थ ! सुन जो ठीक मेरा त्याग हेतु विचार है ।
हे पुरुषव्याघ्र ! कहा गया यह त्याग तीन प्रकार है । 4

मख दान तप ये कर्म करने योग्य त्याज्य न हैं कभी ।
मख दान तप विद्वान को भी शुद्ध करते हैं सभी ॥ 5

ये कर्म भी आसक्ति बिन हो, त्याग कर फल नित्य ही ।
करने उचित हैं पार्थ ! मेरा श्रेष्ठ निश्चित मत यही ॥ 6

निज नियत-कर्म न त्यागने के योग्य होते हैं कभी ।
यदि मोह से हो त्याग तो वह त्याग तामस है सभी ॥ 7

दुख जान कायाक्लेश भय से कर्म यदि त्यागे कहीं ।
वह राजसी है त्याग, उसका फल कभी मिलता नहीं ॥ 8

- फल, संग, तज जो कर्म नियमित कर्म अपना मान है ।
माना गया वह त्याग शुभ सात्त्विक सदैव महान है ॥ 9
- नहिं द्वेष अ कुशल कर्म से जो कुशल में नहिं लीन है ।
संशयरहित त्यागी वही है सत्त्वनिष्ठ प्रवीन है ॥ 10
- सम्भव नहीं है देह धारी त्याग दे सब कर्म ही ।
फल कर्म के जो त्यागता, त्यागी कहा जाता वही ॥ 11
- पाते सकामी देह तज फल शुभ अशुभ मिश्रित सभी ।
त्यागी पुरुष को पर न होता है त्रिविध फल ये कभी ॥ 12
- हैं पाँच कारण जान लो सब कर्म होने के लिये ।
सुन मैं सुनाता सांख्य के सिद्धान्त में जो भी दिये ॥ 13
- आधार कर्ता और सब साधन पृथक् विस्तार से ।
चेष्टा विविध विध दैव ये हैं हेतु पाँच प्रकार के ॥ 14
- तन मन वचन से जन सभी जो कर्म जग में कर रहे ।
हो ठीक या विपरीत उनके पाँच से कारण कहे ॥ 15
- जो मूढ अपने आप को ही किन्तु कर्ता मानता ।
उसकी नहीं है शुद्ध बुद्धि न ठीक वह कुछ जानता ॥ 16
- जो जन अहंकृतिभाव बिन, नहिं लिप्त जिसकी बुद्धि भी ।
नहिं मारता वह मारकर भी, है न बन्धन में कभी ॥ 17
- नित ज्ञान ज्ञाता ज्ञेय करते कर्म में है प्रेरणा ।
है कर्मसंग्रह, करण, कर्ता, कर्म तीनों में बना ॥ 18

सुन ज्ञान एवं कर्म कर्ता भेद गुण अनुसार है ।
जैसे कहे हैं सांख्य में वे सर्व तीन प्रकार हैं ॥ 19

सब भिन्न भूतों में अनश्चर एक भाव अभिन्न ही ।
जिस ज्ञान से जन देखता है, ज्ञान सत्त्विक है वही ॥ 20

जिस ज्ञान से सब प्रणियों में भिन्नता का भान है ।
सब में अनेकों भाव दिखते, राजसी वह ज्ञान है ॥ 21

जो एक ही लघु कार्य में आसक्त पूर्ण-समान है ।
निःसार युक्ति विहीन है वह तुच्छ तामस ज्ञान है ॥ 22

फल-आश-त्यागी नित्य नियमित कर्म जो भी कर रहा ।
बिन राग द्वेष, असंग हो, वह कर्म सत्त्विक है कहा ॥ 23

आशा लिये फल की अहंकृत-बुद्धि से जो काम है ।
अति ही परिश्रम से किया, राजस उसी का नाम है ॥ 24

परिणाम, पौरुष, हानि, हिंसा का न जिसमें ध्यान है ।
वह तामसी है कर्म जिसके मूल में अज्ञान है ॥ 25

बिन अहंकार, असंग, धीरजवान्, उत्साही महा ।
अविकार सिद्धि असिद्धि में सत्त्विक वही कर्ता कहा ॥ 26

हिंसक, विषय-मय, लोभ-हर्ष-विषाद-युक्त मलीन है ।
फल कामना में लीन, कर्ता राजसी वह दीन है ॥ 27

चंचल, घमंडी, शठ, विषादी, दीर्घसूत्री, आलसी ।
शिक्षा-रहित, पर-हानि-कर, कर्ता कहा है तामसी ॥ 28

- होते त्रिविध ही हे धनंजय! बुद्धि धृति के भेद भी ।
सुन भिन्न-भिन्न समस्त गुण-अनुसार कहता हूँ अभी ॥ 29
- जाने प्रवृत्ति निवृत्ति बन्धन मोक्ष कार्य अकार्य भी ।
हे पार्थ! सत्त्विक बुद्धि है जो भय अभय जाने सभी ॥ 30
- जिस बुद्धि से निर्णय न कार्य अकार्य बीच यथार्थ है ।
जाने न धर्म अधर्म को वह राजसी मति पार्थ! है ॥ 31
- तम- व्याप्त हो जो बुद्धि, धर्म अधर्म ही को मानती ।
वह तामसी जो नित्य अर्जुन ! अर्थ उलटे जानती ॥ 32
- जब जन अचल धृति से किया मन प्राण इन्द्रिय से सभी ।
धारण करे नित योग से, धृति शुद्ध सत्त्विक है तभी ॥ 33
- आसक्ति से फल - कामना - प्रिय धर्म अर्थ व काम है ।
धारण किये जिससे उसी का राजसी धृति नाम है ॥ 34
- तामस वही धृति पार्थ! जिससे स्वप्न, भय, उन्माद को ।
तजता नहीं दुर्बुद्धि मानव, शोक और विषाद को ॥ 35
- अब सुन त्रिविध सुख-भेद भी जिसके सदा अभ्यास से ।
सब दुःख का कर अन्त अर्जुन ! जन उसी में जा बसे ॥ 36
- आरम्भ में विषवत् सुधा सम किन्तु मधु परिणाम है ।
जो आत्म बुद्धि प्रसाद सुख सत्त्विक उसी का नाम है ॥ 37
- राजस वही सुख है कि जो इन्द्रिय-विषय-संयोग से ।
पहिले सुधा सम, अन्त में विष-तुल्य हो फल-भोग से ॥ 38

- आरम्भ एवं अन्त में जो मोह जन को दे रहा ।
आलस्य नींद प्रमाद से उत्पन्न सुख तामस कहा ॥ 39
- इस भूमि पर आकाश अथवा देवताओं में कहीं ।
हो प्रकृति के इन तीन गुण से मुक्त ऐसा कुछ नहीं ॥ 40
- द्विज और क्षत्रिय वैश्य शूद्रों के परंतप! कर्म भी ।
उनके स्वभावज ही गुणों अनुसार बाँटे हैं सभी ॥ 41
- शम दम क्षमा तप शुद्धि आस्तिक बुद्धि भी विज्ञान भी ।
द्विज के स्वभावज कर्म हैं, तन मन सरलता ज्ञान भी ॥ 42
- धृति शूरता तेजस्विता रण से न हटना धर्म है ।
चातुर्य स्वामी भाव देना दान क्षत्रिय कर्म है ॥ 43
- कृषि धेनु-पालन वैश्य का वाणिज्य करना कर्म है ।
नित कर्म शूद्रों का स्वभावज लोक सेवा धर्म है ॥ 44
- करता रहे जो कर्म निज-निज सिद्धि पाता है वही ।
निज-कर्म-रत नर सिद्धि सुन किस भाँति पाता नित्य ही ॥ 45
- जिससो प्रवृत्ति समस्त जीवों की तथा जग व्याप्त है ।
निज कर्म से, नर पूज उसको सिद्धि करता प्राप्त है ॥ 46
- निज धर्म निर्गुण श्रेष्ठ है, सुन्दर सुलभ पर-धर्म से ।
होता न पाप स्वभाव के अनुसार अपने कर्म से ॥ 47
- निज नियत कर्म स्वदोष हों, तो भी उचित नहीं त्याग है ।
सब कर्म दोषों से धिरे जैसे धुएँ से आग है ॥ 48

वश में किये मन, मति असक्त, न कामना कुछ व्याप्त की ।
नैष्कर्म्य-सिद्धि महान तब, संन्यास द्वारा प्राप्त हो ॥ 49

जिस भाँति पाकर सिद्धि होती ब्रह्म-प्राप्ति सदैव ही ।
संक्षेप में सुन ज्ञान की अर्जुन परा-निष्ठा वही ॥ 50

कर आत्म-संयम धैर्य से अतिशुद्ध मति में लीन हो ।
सब त्याग शब्दादिक विषय, नित राग-द्वेष-विहीन हो ॥ 51

एकान्तसेवी अल्प-भोजी तन मन वचन वश किये ।
हो ध्यानयुक्त सदैव ही, वैराग्य का आश्रय लिये ॥ 52

बल अहंकार घमंड संग्रह क्रोध काम विमुक्त हो ।
ममता रहित नर शान्त, ब्रह्म-विहार से उपयुक्त हो ॥ 53

जो ब्रह्मभूत प्रसन्न मन है, चाह-चिन्ताहीन है ।
सम भाव सब में साध, होता भक्ति में लवलीन है ॥ 54

मैं कौन कितना, भक्ति से उसको सभी यह ज्ञान हो ।
मुझमें मिले, मेरी उसे जब तत्त्व से पहिचान हो ॥ 55

करता रहे सब कर्म भी मेरा सदा आश्रय धरे ।
मेरी कृपा से प्राप्त वह अव्यय सनातन पद करे ॥ 56

मन से मुझे सारे समर्पित कर्म कर मत्पर हुआ ।
मुझमें निरन्तर चित्त धर, सम-बुद्धि में तत्पर हुआ । 57

रख चित्त मुझमें, मम कृपा से दुःख सब तर जायगा ।
अभिमान से मेरी न सुन कर, नाश केवल पायगा ॥ 58

‘मैं नहीं करूँगा युद्ध’ तुम अभिमान से कहते अभी ।
यह व्यर्थ निश्चय है प्रकृति तुम से करा लेगी सभी ॥ 59

करना नहीं जो चाहता है मोह में तल्लीन हो ।
वह सब करेगा निज स्वभावज कर्म के आधीन हो ॥ 60

ईश्वर हृदय में प्राणियों के बस रहा है नित्य ही ।
सब जीव यन्त्रारूढ माया से घुमाता है वही ॥ 61

इस हेतु ले उसकी शरण सब भाँति से सब ओर से ।
शुभ शांति लेगा नित्य-पद, उसकी कृपा की ओर से ॥ 62

तुझसे कहा अतिगुप्त ज्ञान समस्त यह विस्तार से ।
जिस भाँति जो चाहे वही कर पार्थ! पूर्ण विचार से ॥ 63

अब अन्त में अतिगुप्त हे कौन्तेय ! कहता बात हूँ ।
अति प्रिय मुझे तू अस्तु हित की बात कहता तात हूँ ॥ 64

रख मन मुझी में, कर यजन, मम भक्त बन, कर वन्दना ।
मुझमें मिलेगा, सत्य प्रण तुझसे, मुझे तू प्रिय घना ॥ 65

तज धर्म सारे एक मेरी ही शरण को प्राप्त हो ।
मैं मुक्त पापों से करूँगा तू न चिन्ता-व्याप्त हो ॥ 66

निन्दा करे मेरी, न सुनना चाहता, बिन भक्ति है ।
उसको न देना ज्ञान यह जिसमें नहीं तप-शक्ति है ॥ 67

यह गुप्त ज्ञान महान भक्तों से कहेगा जो सही ।
मुझमें मिलेगा भक्ति पा मेरी, असंशय नर वही ॥ 68

- उससे अधिक प्रिय कार्य-कर्ता विश्व में मेरा नहीं ।
उससे अधिक मुझको न प्यारा दूसरा होगा कहीं ॥ 69
- मेरी तुम्हारी धर्म-चर्चा जो पढेगा ध्यान से ।
मैं मानता पूजा मुझे है ज्ञानयज्ञ विधान से ॥ 70
- बिन दोष ढूँढे जो सुनेगा नित्य श्रद्धायुक्त हो ।
वह पुण्यवानों का परम शुभ लोक लेगा मुक्त हो ॥ 71
- अर्जुन! कहो तुमने सुना यह ज्ञान सारा ध्यान से ।
अब भी छूटे हो या नहीं उस मोहमय अज्ञान से ॥ 72
- अर्जुन ने कहा
अच्युत्! कृपा से आपकी अब मोह सब जाता रहा ।
संशय रहित हूँ सुधि मुझे आई, करूँगा हरि कहा ॥ 73
- संजय ने कहा
इस भाँति यह रोमाञ्चकारी और श्रेष्ठ रहस्य भी ।
श्री कृष्ण अर्जुन का सुना संवाद है मैंने सभी ॥ 74
- साक्षात् योगेश्वर स्वयं श्री कृष्ण का वर्णन किया ।
यह श्रेष्ठ योग-रहस्य व्यास प्रसाद से सब सुन लिया ॥ 75
- श्री कृष्ण, अर्जुन का निराला पुण्यमय संवाद है ।
हर बार देता हर्ष है, आता मुझे जब याद है ॥ 76
- जब याद आता उस अनोखे रूप का विस्तार है ।
होता तभी विस्मय तथा आनन्द बारम्बार है ॥ 77

श्री कृष्ण योगेश्वर जहाँ अर्जुन धनुर्धारी वहाँ ।
वैभव, विजय, श्री नीति सब मत से हमारे हैं वहाँ ॥

78

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृष्णार्जुन संवादे मोक्षसंन्यास योगोनाम अष्टा दशोऽध्यायः ॥

भगवतीता की आरती

ॐ जय भगवतीते, मैया जय भगवतीते ।
हरि-हिय-कमल विहारिणि सुन्दर सुपुनीते ॥
ॐ जय भगवतीते ॥

कर्म-सुमर्म-प्रकाशिनि कामासक्तिहरा ।
तत्त्वज्ञान-विकाशिनि विद्या ब्रह्म परा ॥ जय ॥

निश्चल-भक्ति-विधायिनि निर्मल मलहारी ।
शरण-सहस्य -प्रदायिनि सब विधि सुखकारी ॥ जय ॥

राग-द्वेष-विदारिणि कारिणि मोद सदा ।
भव-भय-हारिणि तरिणि परमानन्द प्रदा ॥ जय ॥

आसुर-भाव-विनाशिनि नाशिनि तम रजनी ।
दैवी सद् गुणदायिनि हरि-रसिका सजनी ॥ जय ॥

समता, त्याग, सिखावनि, हरि मुख की बानी ।
सकल शास्त्र की स्वामिनी श्रुतियों की रानी ॥ जय ॥

दया-सुधा बरसावनि. मातु! कृपा कीजै ।
हरिपद-प्रेम दान कर अपनौ कर लीजै ॥ जय ॥